लोकप्रियसाहित्यग्रन्थमाला - 16

भोजप्रबन्धः

एक काव्यशास्त्रीय अध्ययन

सुधीर कुमार लाल

राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान
मानित विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

लोकप्रियसाहित्यग्रन्थमाला - 16

भोजप्रबन्ध :

एक काव्यशास्त्रीय अध्ययन

प्रधान सम्पादक

प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी

डॉ. सुधीर कुमार लाल

राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्
मानितविश्वविद्यालयः
नवदेहली

प्रकाशक:
कुलसचिव:
राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्
मानितविश्वविद्यालय:
56-57, इन्स्टीट्यूशनल एरिया
जनकपुरी, नवदेहली-110 058

e-mail : rsks@nda.vsnl.net.in
website : www.sanskrit.nic.in

ISBN: 978-93-86111-40-1

संस्करणम् : 2010

मूल्यम् : 140/- रू.

मुद्रक:
अमर प्रिंटिंग प्रैस, दिल्ली-9

पुरोवाक्

आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तद्विजिज्ञासस्व। तद्ब्रह्मेति। इति श्रुतौ आनन्दमीमांसा श्रूयते। सम्पूर्णजीवनम् आनन्दान्वेपणेनैव व्यतीयते। एष आनन्दो लौकिकालौकिकभेदेन द्विधा विज्ञायते। लौकिकसुखसमृद्धिराद्यः आत्मस्वरूपज्ञानं द्वितीयः। एतद्द्वयमतिरिच्य कश्चिदानन्दो वर्तते तृतीयः काव्यानन्द इति। एष आनन्दः काव्यानां श्रवणमननादिभिः सहृदयैः प्राप्यमाणोऽनिर्वचनीयः। अत एव कविकर्म काव्यं श्रेष्ठं मन्यते। क्रान्तदर्शी कविः स्वीयेच्छया अभिनवलोकस्य कल्पनाख्यस्य सृष्टिं करोति। अत एव कविः प्रजापतितुल्यो मन्यते। तदुक्तं–

अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेवेदं परिवर्तते॥ इति।

तादृशं काव्यं त्रेधा ज्ञायते – गद्यं, पद्यं, चम्पूरिति। गद्यपद्यमयं काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते इति लक्षणलक्षितमिदं काव्यं भवति। तादृशे चम्पूकाव्ये गद्यपद्योभयरसास्वादो जायत इति स प्रकारोऽधिकतरं विशिष्यते।

तादृशकाव्यप्रकारमवलम्ब्य श्रीबल्लाकविना सन्दृब्धः प्रबन्धो भोजप्रबन्धनाम्ना प्रथते। भारतवर्षस्य कश्चनापकर्षकालो मन्यते षोडशं शतकं विविधकारणैः। तस्मिन्काले जीवितेन कविना बल्लालेन एषः प्रबन्धः प्रणीतः। इदं काव्यं कथाप्रसङ्गात्मकम्, उपदेशात्मकम्, सङ्कलनात्मकञ्च शोभते।

शताधिकप्रबन्धनिमातुः विविधशास्त्रपाथोधिमन्थनप्राप्तपीयूषवितरणविचक्षणस्य विलक्षणबुद्धिवैभवशालिनो धाराधराधीशस्य महाराजभोजस्य अनुश्रुतिभिः प्राप्तैः कथाप्रसङ्गैश्चरितमत्र विषयीकृतम्। तत्प्रसङ्गाच्च

श्रीभोजराजकालेकुविन्दशिविकावाहकादीनामपि संस्कृतवाग्व्यवहारपाटवं दशमशतके च संस्कृतस्य विस्मयावहं नवोन्मेषवृत्तं विज्ञायते। अथ श्रीभोजराजाश्रितानां नैकेषां कवीनां दुर्लभानि पद्यान्यपि प्रबन्धकारेण बल्लालसेनेन अत्र उद्धृतानि। तेषु बहूनि पद्यानि संस्कृतसाहित्यभाण्डागारस्य सर्वथा निरुपमशेवधौ रत्नायन्ते। तथाहि दारिद्र्यदुर्दशाया हृदयद्रावकं निरूपणं भोजस्याग्रहेण केनापि कविना प्रस्तुते पद्येऽस्मिन् दृश्यते–

वृद्धोऽन्धः पतिरेष मञ्चकगतः स्थूणावशेषं गृहं
कालोऽभ्यर्णजलागमः कुशलिनी वत्सस्य वार्तापि नो।
यत्नात् सञ्चिततैलबिन्दुघटिका भग्नेति पर्याकुला
दृष्ट्वा गर्भभरालसां निजवधूं श्वश्रूश्चिरं रोदिति॥

एतादृशोऽयं महनीयो ग्रन्थश्चिरात् सर्वथा सुलभो नासीदिति मूलग्रन्थस्तस्य च सुविचारितसुस्थम् अध्ययनमेतस्मिन् पुस्तके विदुषा सुधीरकुमारलालेन सन्दृब्धे प्रस्तूयते।

अत्र प्रथमेऽध्याये कवेः बल्लालस्य, तत्कृतेश्च परिचयः प्रस्तूयते। कथासारेण साकं कृतेर्मूल्याङ्कनमपि प्रस्तुतम्। द्वितीयेऽध्याये चम्पू-काव्यस्योद्भवविकासविवेचनपुरस्सरं भोजप्रबन्धस्य गद्यपद्यानां विविधायामैः वर्गीकरणं विधाय विवेचनं प्रस्तुतमस्ति। तृतीयेऽध्याये भोजप्रबन्धस्य शिल्पालङ्काररसादीनां विस्तृतं विवेचनं शोधशैल्या विहितमस्ति। अस्मिन् अध्याये शिल्पपक्षे अभिनवदृष्ट्या विचारो विहितः यत्र एतत्सम्बन्धिभ्रान्तयो निराकृताः तर्कसङ्गतवचोभिः।

इत्थं भोजप्रबन्धस्य काव्यशास्त्रीयमध्ययनं साङ्गोपाङ्गं प्रस्तूयते अनुसन्धानशैलीमाधृत्य श्रीमद्भिः विद्वद्भिः अस्मिन्विषये कृतश्रमैः डॉ. सुधीरकुमारलालवर्यैः। तेषां वैदुष्यस्य विचारसरणेश्च परिचयं ददाति एषः ग्रन्थः। तेभ्यः कृतज्ञतावाकं प्रकुर्महे। अमुं ग्रन्थं विदुषां करकमलेषु अर्पयितुं नितान्तं हर्षमनुभवामः। एषोऽपि ग्रन्थः विदुषामादरभाग्भवेदित्यस्माकं विश्वासः।

ग्रन्थस्यास्य प्रकाशनकार्ये साहाय्यं कृतवद्भ्यः सर्वेभ्यः ग्रन्थममुं साधु मुद्रितवते च साधुवादं व्याहरामः।

नवदेहली
19-07-2010 —राधावल्लभः त्रिपाठी

भूमिका

संस्कृत-साहित्य भारतीय समाज के भव्य विचारों का रुचिर दर्पण है। साहित्य किसी भी देश की राष्ट्रीय संस्कृति, जातीय भावनाओं, जीवनमूल्यों तथा आदर्शों का प्रतीक होता है। संस्कृत-साहित्य भारतवर्ष का राष्ट्रीय गौरव है। इस मुकुर में हमें अपने गौरवमय एवं समृद्ध अतीत की भव्य झांकी देखने को मिलती है। हमारा साहित्य परा एवं अपरा विद्याओं का महनीय कोष है। प्राचीनता की दृष्टि से यह अद्वितीय एवं अप्रतिम है। व्यापकता की दृष्टि से यह सर्वांगीण है। कौटिल्य-अर्थशास्त्र, वात्स्यायन-कामसूत्र, व्याकरण, गणित, कोष, अलंकार, संगीतशास्त्र, आयुर्वेद, ज्योतिषशास्त्र एवं विज्ञान तथा स्थापत्य कला सम्बन्धी अनेकानेक लक्षण एवं लक्ष्य ग्रंथ, इसके विषय-वैविध्य का प्रमाण देते हुए कुछ लोगों की इस धारणा को भ्रान्त एवं निर्मूल सिद्ध करते हैं कि संस्कृत-साहित्य में केवल धर्म-ग्रन्थों का ही प्राचुर्य है। वस्तुतः प्राचीन काल से ही भारतीय विद्वानों की रुचि केवल पारलौकिक निःश्रेयस् की सिद्धि अथवा श्रेयः शास्त्रों की ओर ही नहीं, अपितु लौकिक अभ्युदय की प्राप्ति अथवा प्रेय-शास्त्रों की ओर भी रही है। प्रसिद्ध जर्मन भारतीविद्याविद् डा॰ विन्तर्नित्स के शब्दों में–

'लिटरेचर (साहित्य) अपने व्यापक अर्थ में जो कुछ भी सूचित कर सकता है, वह संस्कृत में वर्तमान है।"[1]

साहित्य या काव्य क्यों रचा जाता है, इस विषय पर प्रत्येक मान्य आचार्यों की अपनी-अपनी मान्यताएँ हैं, पर यह मत तो, सभी को मान्य है कि काव्य या साहित्य आनन्द के लिए रचा जाता है। अन्योन्य काव्य-प्रयोजनों के साथ-साथ, आनन्द को भी सभी ने आदरपूर्वक परिगणित किया है।[2] वस्तुतः अनादि काल से मानव आनन्द का उपासक

---

1. डा॰ एम॰ विन्तर्नित्स : ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर, भाग-1, भूमिका पृ. 1
2. विस्तार हेतु द्रष्टव्य-चौधरी, सत्यदेव : भारतीय काव्यशास्त्र, द्वितीय अध्याय, (काव्यहेतु और काव्य प्रयोजन), पृ॰-23-29

रहा है। उसका सम्पूर्ण जीवन आनन्द-अन्वेषण में ही व्यतीत होता है। भारतीय मनीषि इस तथ्य को जान गए थे, अतः उन्होंने आनन्द का द्विधा विभाजन किया—भौतिक (लौकिक) तथा आध्यात्मिक (अलौकिक) भौतिक आनन्द एक ओर जहाँ सांसारिक सुख-सुविधाओं की उपलब्धता से प्राप्त होता है तो आध्यात्मिक आनन्द अपने स्वरूप को जानने से।

पर उपर्युक्त दोनों प्रकार के आनन्द से बढ़कर एक अन्य आनन्द है, जिसे हम 'साहित्य या काव्य-आनन्द' कह सकते हैं। सहृदय व्यक्तियों को काव्य के श्रवण, दर्शन अथवा मनन से प्राप्त होने वाला यह आनन्द अनिर्वचनीय होता है। कवि के कर्म को काव्य कहते हैं। कवि, भारतीय शास्त्रीय परम्परा में प्रजापति के रूप में समादृत है। वह क्रान्तद्रष्टा होता है और स्वेच्छानुसार, अपने नूतन कल्पनालोक की सृष्टि में समर्थ भी। कहा भी गया है—

'अपारे काव्य संसारे कविरेव प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते।।'

कवि, प्रजापति की सृष्टि को देख, जीवनानुभवों तथा जीवनेच्छाओं के अन्तर्विरोध से असन्तुष्ट हो, अपनी नवीन काव्य-सृष्टि करता है जिसमें वह अपने इच्छित यथार्थ की पूर्ति करता है। और यही काव्य जब दर्शकों या पाठकों के सामने आता है, तो इसे देखकर या पढ़कर वे भी इससे प्रभावित होते हैं तथा असमें आगत एवं प्रतिपादित यथार्थ को वास्तविक यथार्थ बनाने के लिए, स्वेच्छा से प्रेरित होते हैं। इस प्रकार, कवि-कर्म या काव्य एक ओर ब्रह्मानन्द-सहोदर रस की प्रतीति करवाता है तो दूसरी ओर उस समाज को परिवर्तित करने का भी प्रयास करता है, जहाँ से उसका उदय हुआ।

काव्य के भारतीय काव्यशास्त्र परम्परा में प्रमुखतः दो भेद किए गए—श्रव्य काव्य एवं दृश्य काव्य। यह विभाजन कर्मेन्द्रिय-परक है। दृश्य काव्य में नाटकादि आते हैं, तो श्रव्य काव्य में महाकाव्य, खण्डकाव्य, कथा-साहित्य इत्यादि परिगणित होते हैं।

'भोजप्रबन्ध' श्रीबल्लाल कवि की रचना है। यह काव्य-भेदों के अन्तर्गत चम्पू-काव्य में परिगणित होता है (चम्पू काव्य का वह भेद है, जिसमें गद्य-पद्य का मिश्रण होता है)। साथ ही, उसमें प्रबन्धात्मकता भी

प्राप्त होती है, जिससे अनेक विद्वानों ने इसे कथा-साहित्य के अन्तर्गत रखा है। इसमें नीति-तत्त्वों का प्राचुर्य होने के कारण[1], कतिपय विद्वान्, इसे उपदेशात्मक काव्यों के अन्तर्गत परिगणित करने का आग्रह करते हैं। संक्षेप में, यह एक कथा-संग्रहात्मक, उपदेशात्मक, उद्देश्यात्मक[2] चम्पू काव्य है।

श्रीबल्लाल कवि सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुए थे।[3] यह समय अनेकानेक कारणों (यथा राजनैतिक, आर्थिक एवं सामाजिक इत्यादि) से भारतवर्ष तथा संस्कृत का भी अपकर्ष काल या अंधकार युग था। ऐसे समय में श्रीबल्लाल ने भोजप्रबन्ध जैसा उपयोगी ग्रंथ प्रणीत कर, संस्कृत भाषा के प्रति अपने दायित्व का सम्यग्-निर्वाह किया।

प्रस्तुत पुस्तक में, भोजप्रबन्ध के विषय में अब तक व्याप्त भ्रांतियों एवं विभ्रमों को निरस्त करने का प्रयास किया गया है। इसे अध्ययनार्थ तीन अध्यायों में विभाजित किया गया है। यह संयोग की ही बात है क्योंकि भारतवर्ष में 'तीन' संख्या का बड़ा महत्त्व रहा है। सर्वप्रथम वेद 'त्रयी' (ऋग्यजुस्साम), फिर पुराणों में 'त्रयी' (ब्रह्मा, विष्णु, महेश), दर्शन में प्रस्थान-'त्रयी' (उपनिषद् भाष्य, ब्रह्मसूत्र भाष्य, गीता भाष्य); काव्य में भी 'बृहत्त्रयी' (नैषधीयचरितम्, शिशुपालवधम् और किरातार्जुनीयम्) तथा 'लघुत्रयी' (कुमारसंभवम्, रघुवंशम् तथा मेघदूतम्) इत्यादि से 'त्रयी' का भारतीय वाङ्मय में महत्त्व स्वतः घोतित होता है।

सर्वप्रथम, प्रथम अध्याय में, श्रीबल्लाल के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर प्रकाश डालते हुए, भोज प्रबन्ध की कथा का सार एवं कृति का मूल्यांकन प्रस्तुत किया गया है।

द्वितीय अध्याय, चम्पू काव्य के उद्भव एवं विकास की पृष्ठभूमि तैयार करते हुए, इसके (भोज प्रबन्ध के) पद्यों का वर्गीकृत (नीतिपरक, समस्या-पूर्तिपरक, प्रकृति-चित्रणपरक एवं स्तुतिपरक) विस्तृत विवेचन तथा गद्य का सोदाहरण विवेचन प्रस्तुत करता है।

---

1. द्रष्टव्य : इसी पुस्तक का द्वितीय अध्याय
2. उद्देश्य के विस्तार-हेतु, इसी पुस्तक का तृतीय अध्याय द्रष्टव्य है।
3. द्रष्टव्य-पुस्तक का प्रथम अध्याय।

तृतीय अध्याय में, भोजप्रबन्ध के शिल्प, इसमें आगत अलंकारों एवं रस का विवेचन किया गया है। इसी में इसके शिल्प पक्ष में एक सर्वथा नूतन दृष्टिकोण से इसका पुनरीक्षण किया गया है जो कि इसके संबंध में विद्यमान भ्रान्त धारणाओं का निराकरण कर, इसकी सोद्देश्यता का उद्घाटन करता है।

इस अध्ययन में शास्त्रीय, सिद्धान्तों के विकासात्मक पक्ष को उद्घाटित करने वाले तथा तार्किक अधिगम का आश्रय लिया गया है। प्रत्येक शास्त्रीय तत्त्व यथा चम्पू-काव्यत्व, अलंकार, रस, गद्य एवं पद्यादि में उक्त तत्त्वों के कालक्रमानुसार विकास को भी संक्षेपतः दर्शाया गया है जिससे कि विषय की बोधगम्यता की वृद्धि हो सके। कवि के प्रति किसी पूर्वाग्रह से ग्रस्त हुए बिना इस कार्य का सम्पादन किया गया है, जो कि अत्यन्त कठिन था, क्योंकि श्रीबल्लाल कवि का भोजप्रबन्ध जहाँ एक ओर अपने सरस, सहज एवं सरल गद्य तथा बुद्धिमत्तापूर्ण, तर्क-युक्त एवं सरल कण्ठस्थ करणीय पद्यों के कारण अत्यन्त प्रसिद्ध है, वहीं दूसरी ओर प्रसिद्धाप्रसिद्ध कवियों को एक साथ, एक जगह एकत्रित करने के कारण, सहृदयों में उत्पन्न दिग्भ्रम का उत्तरदायी होने से कुख्यात भी। इस पुस्तक में इसकी अनैतिहासिकता की सिद्धि हेतु भी प्रमाण दिए गए हैं, जो कि कवि के उद्देश्यात्मक पक्ष को ही पुष्टि प्रदान करते हैं। साथ ही परिशिष्ट के रूप में भोजप्रबन्ध का मूलपाठ एवं इसमें आगत श्लोकों की अनुक्रमणिका उपस्थापित कर, इस पुस्तक को और अधिक सुपाठ्य एवं रुचिकर बनाने का प्रयास किया गया है। मूलपाठ के निर्धारण में भोजप्रबन्ध के तीन प्रकाशित संस्करणों के पाठों का तुलनात्मक अध्ययन करके, पाठ-निर्माण किया गया है एवं पाठान्तरों को पाद-टिप्पणी में दिया गया है।

लेखक राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान के कुलपति प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता है, जिन्होंने अत्यन्त कृपापूर्वक, लोकप्रियसाहित्यग्रन्थमाला के अन्तर्गत इस पुस्तक के प्रकाशन की स्वीकृति प्रदान की। आदरास्पद प्रो. गयाचरण त्रिपाठी के प्रति लेखक श्रद्धावनत है, यतो हि उन्होंने सदैव उसे "कुछ लिखने" को प्रोत्साहित एवं प्रेरित किया।

—सुधीर कुमार लाल

विषय-सूची

1

श्रीबल्लाल कवि : व्यक्तित्व एवं कृतित्व

भोजप्रबन्ध के रचायता का नाम कवि श्रीबल्लाल है। संस्कृत वाङ्मय के कथा-साहित्य को इन्होंने भोजप्रबन्ध की रचना द्वारा अपरिमित रूप से समृद्ध किया है। इनका नाम बल्लाल देव दैवज्ञ[1] अथवा बल्लाल मिश्र[2], अथवा बल्लाल सेन[3], अथवा बल्लाल या वल्लभ[4] भी प्राप्त होता है।

मध्य प्रदेश के विदर्भ प्रान्त में, पयोष्णी (वर्तमान तापी)[5] नदी के तीर पर स्थित है दधिग्राम। इसी दधिग्राम के प्रसिद्ध विद्वद्कुल में श्रीबल्लाल कवि का जन्म हुआ था। कालान्तर में ये वाराणसी[6] चले गए और वहीं के होकर रह गए।

वंश परम्परा

श्रीबल्लाल ज्योतिर्विदों के प्रख्यात वंश में हुए थे। इनके प्रपितामह चिन्तामणि, पितामह राम एवं पिताश्री त्रिमल्ल थे[7]। इनकी अर्द्धांगिनी का कोई उल्लेख कहीं प्राप्त नहीं होता। इनके पाँच पुत्र थे- राम, कृष्ण, गोविन्द, रंगनाथ एवं महादेव[8]।

---

1. थि॰ आफ्रेक्ट : कै॰ कैट॰, भाग 1, पृ॰ 368
2. डा॰ नगेन्द्र : भा॰ सा॰ कोश, पृ॰ 887
3. डा॰ रा॰ सहाय हीरा : स॰ सा॰ कोश, पृ॰ 357
4. डा॰ एम॰ कृष्णमाचार्यर : हिं॰ आफ क्ला॰ स॰ लि॰, पृ॰ 501
5. माथुर, वि॰ : ऐतिहासिक स्थानावली, पृ॰ 528
6. थि॰ आफ्रेक्ट : कै॰ कैट॰, भाग 1, पृ॰ 368 तथा डा॰ नगेन्द्र : भा॰ सा॰ कोश, पृ॰ 887
7. थि॰ आफ्रेक्ट : कै॰ कैट॰, भाग 1, पृ॰ 368
8. वही, तथा डा॰ गोरखप्रसाद : भा॰ ज्यो॰ का इति॰, पृ॰ 195

गोविन्द के पुत्र नारायण थे और रंगनाथ के मुनीश्वर (विश्व रूप) तथा वासुदेव नामक पुत्र-द्वय थे[1]।

ये सभी ज्योतिषशास्त्र के प्रखर विद्वान् थे। इनमें से श्रीबल्लाल के पुत्र कृष्ण तथा उन्हीं के पौत्र मुनीश्वर ने अपने-अपने ग्रन्थों में अपने पूर्वजों का उल्लेख किया है। ये लिखते हैं कि चिन्तामणि के पुत्र राम को इतना अच्छा भविष्यज्ञान था कि तत्सामयिक विदर्भराज उनके परामर्शानुसार चलते थे[2]। इन्हीं राम पण्डित के पुत्र त्रिमल्ल के पुत्र थे श्रीबल्लाल कवि।

श्रीबल्लाल कवि के पुत्र भी प्रखर मेधावी थे। इनमें से राम ने अनन्तसुधारस की उपपत्ति लिखी[3]। श्रीबल्लाल के दूसरे पुत्र कृष्ण इस वंश के सर्वाधिक प्रसिद्ध विद्वान् हुए। ये अपनी अप्रतिम प्रतिभा के बल पर मुगल सम्राट जहाँगीर की सभा में, प्रधान पण्डितों में स्थान पाते थे[4]। इन्होंने ज्योतिष एवं गणितशास्त्र संबंधी अनेक प्रौढ़ ग्रन्थों की रचना की। इन ग्रन्थों में, भास्कराचार्य के बीजगणित की नवांकुर नामक टीका विशेष रूपेण उल्लेखनीय है, क्योंकि इसमें इनकी अनेक नवीनोद्भावनाएँ भी हैं।[5] इनके कुछ अन्य ग्रंथ हैं-छादकनिर्णय, पंचपक्षी, प्रश्नकृष्णीय, परमेश्वरीय, बीज-विवृत्तिकल्पलतावतार (भास्कर की लीलावती पर), श्रीपति टीका, सूर्य सिद्धान्तोदाहरण आदि।[6] श्रीबल्लाल के चतुर्थ पुत्र रंगनाथ ने सूर्य-सिद्धान्त पर 'गूढार्थ-प्रकाशिका' नामक टीका लिखी।[7]

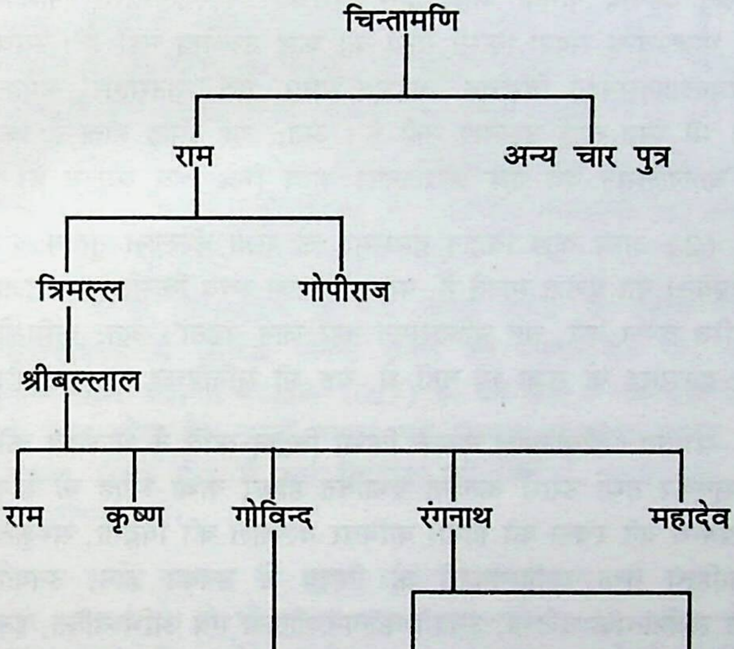
श्रीबल्लाल के पौत्र एवं रंगनाथ के पुत्र मुनीश्वर ने भी अपने वंश की मर्यादा को बनाए रखा। वे मुगल-सम्राट शाहजहाँ के आश्रय में

---

1. वा॰ गैरोला : स॰ सा॰ का स॰ इतिहास, पृ॰ 363
2. वही
3. वही
4. थि॰ आफ्रे॰ : कै॰ कैट॰, भाग 1, पृ॰ 118; डा॰ गोरखप्रसाद: भा॰ ज्यो॰ का इति॰, पृ॰ 193 तथा वा॰ गैरोला-स॰ सा॰ का॰ स॰ इतिहास, पृ॰ 363
5. डा॰ गोरखप्रसाद : भा॰ ज्यो॰ का इति॰, पृ॰ 193
6. डा॰ गोरखप्रसाद : वही; तथा थि॰ आफ्रे॰ : कै॰ कैट॰, पृ॰ 118, भाग 1
7. थि॰ आफ्रे॰ : कै॰ कैट॰, भाग 1, पृ॰; डा॰ गोरखप्रसाद-वही; डा॰ बलदेव उपा॰ : संस्कृत शा॰ का इतिहास, परि॰, पृ॰ 99

भी रहे[1]। उन्होंने भास्करीय लीलावती पर 'निसृष्टार्थदूती लीलावतीविवृत्ति' नामक टीका के साथ-साथ, पाटीसार, सिद्धान्त-सार्वभौम तथा (सिद्धान्त-शिरोमणि के) गणिताध्याय एवं गोलाध्याय पर 'मरीचि' नामक भाष्य का भी प्रणयन किया।

इस प्रकार, श्रीबल्लाल कवि के वंश-वृक्ष को, अब तक उपलब्ध सामग्री के आधार पर इस प्रकार चित्रित किया जा सकता है :-



श्रीबल्लाल कवि के विषय में, विद्वानों में कतिपय मतभेद भी रहे हैं।

---

1. थि॰ आफ्रे॰ कै॰ कैट॰, भाग 1, पृ॰; डा॰ ब॰ उपा॰-वही; डा॰ गोरखप्रसाद-भा॰ ज्योतिष का इति॰, पृ॰ 195

(1) ये बंगराज बल्लालसेन थे।

(2) ये द्वारसमुद्र के राजा बल्लालसेन तृतीय थे।[1]

निराकरण :

(1) बंगराज बल्लालसेन देव, राजा विजयसेन के पुत्र एवं राजा हेमन्तसेन के पौत्र थे। इनका समय बारहवीं शती का है। राजा बल्लालसेन के आश्रित आनन्द नामक कवि द्वारा विरचित 'बल्लालचरित' नामक ग्रन्थ में भोजप्रबन्ध सदृश किसी ग्रन्थ का कोई उल्लेख नहीं है[2]। स्वयं राजा श्रीबल्लालसेनदेव विरचित 'अद्‌भुत सागर' एवं 'दानसागर' नामक ग्रन्थों में भी ऐसा कोई उल्लेख नहीं है[3]। अतः, यह सिद्ध होता है कि बंगराज बल्लालसेन देव एंव श्रीबल्लाल कवि भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं।

(2) अन्य कुछ विद्वान् द्वारसमुद्र के राजा बल्लाल तृतीय को ही भोजप्रबन्ध का प्रणेता मानते हैं, पर कोई राजा स्वयं किसी अन्य राजा का प्रशस्ति वर्णन करे, यह युक्तिसंगत नहीं जान पड़ता[4]। अतः कविश्री बल्लाल द्वारसमुद्र के राजा भी नहीं थे, यह भी सुनिश्चित हो जाता है।

संभवतः श्रीबल्लाल नामक किसी विद्वान् कवि ने भोजराज की प्रशंसा सुनकर तथा उससे अत्यन्त प्रभावित होकर कथा-संग्रह के रूप में भोजप्रबन्ध की रचना की होगी। कविवर बल्लाल की विद्वत्ता, संस्कृत भाषा-साहित्य तथा साहित्यकारों के विषय में उनका ज्ञान, उनकी विलक्षण सर्जनात्मक प्रतिभा, उनकी कल्पनाशीलता एवं अभिव्यक्ति, इन सब का परिचय हमें उनके भोजप्रबन्ध के अनुशीलन से सद्य ही प्राप्त हो जाता है।

श्रीबल्लाल प्रणीत भोजप्रबन्ध के आधार पर, कवि श्रीबल्लाल के जीवन-वृत्त एवं समय के विषय में कुछ भी निश्चयात्मक रूप से नहीं कहा जा सकता। जैसाकि संस्कृत कवियों की एक विशेषता रही है

---

1. प॰ वि॰ शा॰ भारद्वाज : संस्कृत साहित्येतिहास, पृ॰ 143
2. प॰ वि॰ शा॰ भारद्वाज : संस्कृत साहित्येतिहास, पृ॰ 143
3. थि॰ आफ्रे॰ कै॰ कैट॰ पृ॰ भाग; तथा-वही
4. पं॰ वि॰ शा॰ भारद्वाज : संस्कृत साहित्येतिहास, पृ॰ 143

कि वे अपने ग्रंथ में, अपने विषय में कोई संकेत देना उचित नहीं समझते। इसका एकमात्र कारण संभवतः उनकी विनयशीलता ही हो, परन्तु इससे संस्कृत वाङ्मय के इतिहासकारों तथा अध्येताओं एवं अनुसन्धित्सुओं को जिस कठिनाई का सामना करना पड़ता है, इस ओर यदि उनका ध्यान जाता, तो कदाचित् वे निजोपेक्षा के इस भाव को त्याग कर, अपने ऊपर भी कुछ प्रकाश अवश्य डालते। उन्हीं कवियों के पथ का अनुसरण श्रीबल्लाल ने भी किया। इन्होंने भोजप्रबन्ध के आरम्भ अथवा अन्त में, अपने विषय में कोई संकेत नहीं दिया है, तथापि कतिपय अन्तःसाक्ष्यों के आधार पर इतना अनुमान अवश्य लगाया जा सकता है कि इनका समय विक्रम की 15वीं-16वीं शती रहा होगा।[1]

फ्रेंच विद्वान् थामस पेई ने भोजप्रबन्ध का जो फ्रेंच अनुवाद, टीका सहित, जर्नल एशियाटिक में प्रकाशित करवाया था, वहां इसे तेरहवीं शताब्दी की रचना कहा गया है।

परन्तु, श्रीबल्लाल के पुत्र कृष्ण गणक या कृष्ण दैवज्ञ ने ज्योतिषशास्त्र से सम्बद्ध अनेक ग्रन्थों की रचना की थी, और ये मुगल-सम्राट जहांगीर (1606-1627) ई॰ की सेवा में थे, ऐसा उल्लेख हमें प्राप्त होता है[2]। इनके चतुर्थ पुत्र रंगनाथ ने शक-सम्वत् 1525 (अर्थात् 1603 ई॰) में सूर्य सिद्धान्त की 'गूढार्थ प्रकाशिका' नामक टीका लिखी थी।

इन्हीं रंगनाथ के सुपुत्र मुनीश्वर विश्वरूप भी ज्योतिषशास्त्र प्रखर आचार्य थे। ये भी मुगल-सम्राट शाहजहाँ (1627-1658 ई॰) के आश्रय में थे और इन्होंने अपनी एक पुस्तक में शाहजहाँ के राज्याभिषेक का समय भी लिखा है[3]। ये सभी तथ्य इस बात के प्रबल प्रमाण हैं कि श्रीबल्लाल का समय 16वीं शताब्दी ई॰ का उतरार्द्ध रहा होगा।

---

1. व्यास, भोलाशंकर : भोजप्रबन्ध, भूमिका, पृ॰ 3।
2. थि॰ आफ्रेक्ट : कै॰ कैट॰ भाग 1, पृ॰ 118; तथा डा॰ गोरखप्रसाद- भा॰ ज्यो॰ का इति॰, पृ॰ 193।
3. मुनीश्वर को शाहजहाँ का आश्रय प्राप्त था, और उनके राज्याभिषेक का ठीक-ठीक समय उन्होंने मरीचि व्याख्या (भाष्य) में हिजरी सन् में दिया है, जो 4 फरवरी 1628ई॰ में सूर्योदय से 3 घड़ी बाद सिद्ध होता है।
आ॰ ब॰ उपा॰ : स॰ शा॰ का इति॰, पृ॰ 99

वैसे भी, भोजप्रबन्ध में इससे पूर्व के ही, प्रसिद्ध एवं अल्पप्रसिद्ध कवियों के उल्लेख प्राप्त होते हैं। यह भी इसी प्रमाण का पोषक है।

इसीलिए, संस्कृत साहित्य के अधिकांश इतिहासकारों ने श्रीबल्लाल को 16वीं शती के उत्तरार्ध का स्वीकार किया है[1]।

कृतित्व एवं कृति-विवेचन

संभवतः भोजप्रबन्ध ही कवि श्रीबल्लाल की ख्याति का एकमात्र अवलम्ब है। इसके अतिरिक्त, इनके किसी अन्य ग्रंथादिक का उल्लेख हमें कहीं प्राप्त नहीं होता।

भोजप्रबन्ध संस्कृत-वाङ्मय के, प्रबन्ध-ग्रंथों के कोश को समृद्धि प्रदान करने वाला ग्रंथ है। जैसाकि इसके नाम से ही स्पष्ट होता है, यह धारा-नगरी (वर्तमान धार (धारा, जिला ग्वालियर, मध्य प्रदेश)[2] के अधिपति महाराज भोजराज की विद्वत्ता, विद्वत्प्रियता एवं दानशीलता का वर्णन उपस्थित करता है। इसे हम प्रमुखतः द्विधा विभक्त कर सकते हैं-कथामुख एवं मूलकथा। कथामुख में, भोजराज के पिताश्री प्रतापी सिन्धुलराज तथा पितृव्य मुंज की कथा है। मूलकथा में, राजा भोज की दानशीलता का आलंकारिक वर्णन है। कुल 327 श्लोकों में निबद्ध इस कथा-संग्रह में 86 प्रबन्ध या कथाएँ हैं।[3]

संक्षिप्त कथा

कथामुख-महाराज भोज के पिता महाराज सिन्धुल ने धारा नगरी में दीर्घकाल तक प्रजापालन किया। वृद्धावस्था में उन्हें भोज नामक पुत्र हुआ। जब वह पाँच वर्ष का हुआ, तब उन्होंने राज्य अपने पराक्रमी अनुज मुंज को दे दिया तथा भोज को भी उसे अर्पित कर दिया। फिर राजा सिन्धुल दिवंगत हो गए। तब मुंज ने बुद्धिसागर नामक मन्त्री को हटाकर दूसरा मंत्री नियुक्त कर लिया। भोज की शिक्षा-दीक्षा की व्यवस्था करवाई। एक दिन एक ज्योतिषी ने आकर भोज के विषय में

1. द्रष्टव्य : उपा॰ बल॰ - स॰ सा॰ का इति॰, पृ॰ 471, व्यासशिष्य कुँवरलाल, ए॰ बी॰ कीथ आदि।
2. माथुर. वि॰ : ऐतिहासिक स्थानावली, पृ॰ 466
3. डा॰ नगेन्द्र : भा॰ सा॰ कोश, पृ॰ 887

भविष्यवाणी की कि पचपन वर्ष, सात माह और तीन दिनों तक गौड देश सहित दक्षिणापथ पर भोज राज्य करेंगे। मुंज ने इस बात से व्यथित होकर, बंगराज वत्सराज को बुलाकर, भोज के वध की आज्ञा दी। इस समाचार से नगर में कोलाहल फैल गया तथा भोज की माता सावित्री भी शोक-निमग्न हो गईं। परन्तु, कुमार भोज के वचनों को सुन, उनका वध करने हेतु गए वत्सराज के मन में विरक्ति उत्पन्न हो गई और उसने उनका वध नहीं किया। कुशल शिल्पियों द्वारा भोज के सिर की एक प्रतिकृति बनवाकर मुंज को दी तथा भोज का पत्र भी दिया, जिसे पढ़कर मुंज को अपने किए पर पश्चाताप होने लगा। उसने प्रायश्चित-स्वरूप अग्नि-प्रवेश का निश्चय किया। तब बुद्धिसागर एवं वत्सराज ने योजना बनाकर भोज की वापसी का प्रबन्ध किया। सब ओर यह वार्ता फैल गई कि किसी योगी ने भोज को जीवित कर दिया। तब मुंज भोज को गले लगाकर खूब रोया। उसे अपना पुत्र जयन्त तथा राज्य देकर, मुंज परलोक सुधारने वन को चला गया।

मूल कथा

इस भाग में गोविंद, शंकर, कालिदास, लक्ष्मीधर, सीता, बाणभट्ट, क्रीडाचंद्र, मयूर, वररुचि, महेश्वर तथा माघ आदि प्रसिद्ध एवं अप्रसिद्ध कवियों के नाना चरितों तथा उनके द्वारा की गई भोजराज की भिन्न-भिन्न स्तुतियों का वर्णन है। अन्त में, कवि कालिदास भोजराज से कुछ रुष्ट होकर विलासवती नामक वारांगना के साथ एकशिलानगरी चले जाते हैं। वहां भोज भी योगी का वेष बनाकर पहुँच जाते हैं। कालिदास उस योगी को भोजराज की मृत्यु का (मिथ्या) समाचार सुन विलाप करते हुए एक श्लोक[1] पढ़ते हैं, जिसे सुनकर योगी (राजा) मूर्च्छित हो गए। तब सच्चाई को समझे हुए कालिदास ने उसी श्लोक को दूसरी तरह से पढ़ा[2], तब भोज उनका आलिंगन करके उन्हें सादर धारा नगरी को ले गए।

प्रेरणा स्रोत

1. भोजप्रबन्ध : श्लोक 326, पृ॰ 165
2. -वही, श्लोक 327

संस्कृत साहित्य के इतिहास में, मेरुतुंगाचार्य के 'प्रबन्धचिंतामणि' तथा राजशेखर सूरि के 'प्रबन्धकोश' का विशिष्ट स्थान है। इन दोनों ग्रंथों का प्रणयन भोजप्रबन्ध से काफी पहले हो चुका था[1]। इन दोनों में, गद्य-पद्यात्मक शैली में, अनेक राजाओं, उनके कृपापात्र कवियों तथा विद्वानों के विषय में अनेकानेक कथाओं का संग्रह किया गया है। प्रबन्ध चिंतामणि में तो, भोज के पितृव्य मुंज तथा स्वयं भोज के विषय में भी कथाओं का संग्रह किया गया है। संभवतः श्रीबल्लाल को भोजराज के विषय में, इस प्रकार के कथानकों के संग्रह की प्रेरणा इन्हीं से मिली हो। ग्रंथ के साथ प्रयुक्त 'प्रबन्ध' पद भी इसी तथ्य का संकेत प्रतीत होता है। परन्तु, यह मात्र एक कथा-संग्रह न होकर, एक उद्देश्यात्मक ग्रन्थ है[2]।

कृति का मूल्यांकन

संस्कृत वाङ्मय के इतिहासकारों की दृष्टि में, श्रीबल्लाल कृत भोजप्रबन्ध, सर्वाधिक कुख्यात एवं अविश्वसनीय ग्रंथ है[3]। प्रसिद्ध भारतीविद्याविद् डा० एम० विन्तर्नित्स के अनुसार, 'यह पुस्तक कभी भी ऐतिहासिक साहित्य के अन्तर्गत नहीं मानी जा सकती। इसमें सर्वत्र अनैतिहासिकता पराकाष्ठा पर पहुँच गई है तथा बहुत से पूर्व समय के अनुसंधायकगण इसके कारण धोखा खा चुके हैं[4]।

वैसे, प्रबन्ध ग्रंथों की यह एक परम्परा-सी रही है कि जहाँ ये हमें प्राचीन राजाओं, मंत्रियों, कवियों तथा अन्य व्यक्तियों एवं घटनाओं आदि की सूचना देते हैं, वहीं इनके द्वारा प्रदत्त सूचना की प्रामाणिकता संदिग्ध भी है, क्योंकि उनमें दी गई सूचनाओं का प्रायः अन्य ऐतिहासिक

---

1. शास्त्री शिवराज : भोज प्रबन्ध, भूमिका
2. उद्देश्य के विस्तार हेतु कृपया इसी पुस्तक का शिल्प-अध्याय देखें।
3. दे० - प्रो० ए०बी० कीथ : स० सा० का इतिहास, पृ० 365
   कृष्ण चैतन्य : ए न्यू हिस्ट्री आफ स० लि०, पृ० 397
   सु० च० बनर्जी : ए कम्पेनियन टु स० लि०, पृ० 160
   ग० रा० गर्ग : एन इनसाइक्लोपीडिया आफ इंडियन लि०, पृ० 54
4. डा० एम० विन्तर्नित्स : संस्कृत काव्य का इतिहास, पृ० 447-48

स्रोतों यथा दानपत्रों, शिलालेखों आदि से प्राप्त सूचना से विरोध पाया जाता है। भोजप्रबन्ध भी इसी पथ का पथिक है। प्रथमतः इसमें वर्णित मुंज द्वारा भोज की हत्या का षड्यन्त्र, अप्रामाणिक, अनैतिहासिक तथा संभवतः किंवदन्ती पर आधारित है। शिलालेखों के आधार पर इस तथ्य की पुष्टि होती है कि मुंज या वाक्पतिराज सिन्धुराज के अग्रज थे।[1] सिंधुराज के ही उत्तराधिकारी एवं पुत्र थे भोजराज। पद्मगुप्त, जो कि मुंज एवं सिंधुराज के दरबारी कवि थे, ने लिखा है कि अंबिका नगरी जाने से पूर्व मुंजराज ने राज्यभार अपने अनुज सिंधुराज को दे दिया था। इस युद्ध से (जो कि तैलप द्वितीय के साथ हुआ था) मुंजराज वापस नहीं लौटे थे (अर्थात् वीरगति पा गए थे)[2]।

तिलकमंजरी के रचयिता धनपाल कवि, जो कि राजा भोज के समकालीन कहे जाते हैं, लिखते हैं कि मुंज का अपने भतीजे पर अपार स्नेह था और इसी के वशीभूत हो, उन्होंने भोज को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया था।

अतः, इन प्रमाणों से उपरोक्त दन्तकथा की अप्रामाणिकता एवं अनैतिहासिकता स्वयमेव उद्घाटित हो जाती है।

और फिर, भोजराज के दरबार में, वररुचि, दण्डी, कालिदास, माघ, बाण, मयूर तथा भवभूति को ला बिठाना, इतिहास की दृष्टि से असंगत है। संस्कृत साहित्य के इतिहास का पर्यालोचन हमें इस तथ्य से अवगत कराता है, कि, ये सभी विद्वान्, अलग-अलग समय पर हुए हैं। और सभी भोजराज से प्राचीन हैं। हाँ, यह अवश्य सही है कि 'नवसाहसांकचरित' के रचयिता पद्मगुप्त, मुंजराज एवं भोजराज के दरबारी कवि थे, और वे 'परिमल कालिदास' की उपाधि से अलंकृत भी थे, परन्तु यदि यहाँ इन्हीं का संकेत है और वास्तविक कालिदास का नहीं, तब भी बाण, मयूरादि को भोज के दरबार में उपस्थित करने की विसंगति तो बनी ही रहती है। अतः 'रघुकार कालिदास' भी भोजराज के ही दरबार को विभूषित करते थे, यही प्रार्थना ग्रंथ-प्रणेता का उद्देश्य

---

1. एपिग्राफिया इण्डिका, खण्ड 16, पृ. 235
2. डॉ. एम. सिंह: भोज परमार एण्ड हिंज़ टाइम्स, पृ. 27-28

प्रतीत होता है।

अपि च, अनेक प्राचीन पद्यों को, जो कि भर्तृहरि के ग्रंथों, पंचतंत्र, महाभारत आदि से लिए गए हैं, अन्य कवियों के नाम से भोजप्रबन्ध में उद्धृत किया गया है।

सारांशतः संस्कृत साहित्य के इतिहासकारों ने, भोजप्रबन्ध को ऐतिहासिक दृष्टि से सर्वथा अनुपादेय, अप्रामाणिक, अनैतिहासिक एवं भ्रामक घोषित किया है।

परन्तु, ऐसा प्रतीत होता है कि ये सब साहित्यकार एवं इतिहासकार, इस दोषारोपण के समय, इस महनीय तथ्य को विस्मृत कर देते हैं कि श्रीबल्लाल एक कवि हैं और कवि क्रान्तद्रष्टा होता है, वह सर्वज्ञ, प्रतिभाशाली और बुद्धिमान् होने के साथ-साथ स्रष्टा[1] भी होता है, वह सर्वतन्त्र स्वतन्त्र होता है और स्वेच्छा से अपने नवीन कल्पनालोक का निर्माण कर सकता है। और फिर, भोजप्रबन्ध कोरी गप्प या कपोल-कल्पना नहीं है। इसमें चित्रित यथार्थ पर आधारित कल्पना संस्कृत-साहित्य में प्रायः दुर्लभ ही हैं। अपने इच्छित मनोभावों की पूर्ति करने वाली, मनोभावाभिव्यक्ति की इस विधा को पाश्चात्य काव्य-जगत्, आज 'फैण्टेसी' के नाम से जानता है।[2] कवि श्रीबल्लाल, सुदूर अतीत में, भारत में, इसी विधा के पोषक एवं परिवर्द्धक प्रतीत होते हैं। भोजप्रबन्ध में प्रयुक्त इस अभिव्यक्ति-विधा की विस्तृत विवेचना तृतीय अध्याय में, इसके कला-पक्ष की समीक्षा के समय की जाएगी।

साथ ही भोजप्रबन्ध में कविकुलगुरु कालिदास की भाँति, श्रीबल्लाल कहीं भी कोई भी ऐसी पूर्वोद्घोषणा नहीं करते कि मैं इतिहास लिखने जा रहा हूँ, अथवा जो वर्णन भोजप्रबन्ध में उल्लिखित है, उन्हें अक्षरशः सत्य एवं पूर्णतया ऐतिहासिक माना जाए।

हां, ग्रन्थारम्भ में उन्होंने 'प्रबन्ध' पद का प्रयोग अवश्य किया है[3]। प्रबन्ध पद एक ओर जहाँ साहित्यिक कृति अथवा रचना के अर्थ में प्रयुक्त

1. आप्टे वा॰ शि॰ : संस्कृत-हिंदी कोश, पृ॰ 259 'कवि'।
2. इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका : भाग 18
3. 'स्वस्ति श्रीमहाराजाधिराजस्य भोजराजस्य प्रबन्धः कथ्यते'। भो॰ प्र॰, द्रष्टव्य- पृ.105

होता है वहीं दूसरी ओर यह कल्पना, झूठमूठ की कहानी अथवा किसी कथ्य के उपस्तर पर आधारित कल्पना-कृति के लिए भी प्रयोग में आता है-'प्रबन्धकल्पनां स्तोकसत्यां प्राज्ञाः कथां विदुः।'[1] अतः प्रयुक्त पद के चयन में कवि ने जैसी सावधानी दिखाई है, आलोचकों से उसके अर्थ-निर्धारण में भी वैसी ही सावधानी अपेक्षित है।

ऐसी स्थिति में श्रीबल्लाल कवि को इस प्रकार के अभियोगों एवं उनके ग्रंथ को ऐसे-ऐसे 'विशेषणों' से 'उपकृत' करना, कहाँ तक उचित है, इसका निर्णय विद्वत्समुदाय स्वयमेव करने में समर्थ हो।

---

1. आप्टे, वा॰ शि॰ : संस्कृत-हिंदी कोश, पृ॰ 666

2

भोजप्रबन्ध : एक रचनात्मक विमर्श

चम्पू काव्य का उद्‌भव एवं विकास

मानव जब अपने जीवन में होने वाली अनुभूतियों को वाणी के माध्यम से अभिव्यक्त करता है, तब अनुभूति और अभिव्यक्ति का यह मणि-कांचन योग वाङ्‌मय कहलाता है। वैदिक काल से लेकर आज तक संस्कृत वाङ्‌मय की धारा अजस्र गति से प्रवाहित हो रही है। आचार्य राजशेखर ने वाङ्‌मय को दो वर्गों में विभाजित किया है–

इह हि वाङ्‌मयमुभयथा शास्त्रं काव्यं च।[1]

यहाँ शास्त्र से ज्ञानात्मक साहित्य तथा काव्य से रागात्मक साहित्य उन्हें अभिप्रेत है। शास्त्रीय वाङ्‌मय देश-काल एवं समाज की परिस्थितियों के परिवर्तित होने तथा नए-नए अन्वेषण और वैज्ञानिक अनुसन्धानों की प्रगति के कारण भले ही पुरातन हो जाए, पर रागात्मक साहित्य या काव्य नित नूतन रहता है, क्योंकि वह कवि की कृति होता है–कवेः कृतिः काव्यम्। कवि सामान्य प्राणियों से भिन्न होता है। उसका हृदय सामान्य जन की अपेक्षा अधिक संवेदनशील होता है। जीवनानुभवों से उत्पन्न संवेगों को वह सक्षमता एवं ओजस्विता से वाणी द्वारा मुखरित कर सकता है। इन्हीं संवेगों को मुखरित करने हेतु अभिव्यक्ति की अनेकानेक विधाओं का जन्म होता है।

कवि के संवेगों को सहृदय इन्द्रियों (अर्थात् नेत्र श्रोत्र) से ग्रहण करते हैं। अतः इन्द्रियग्राहिता के आधार पर काव्य के दो भेद किए जाते हैं। श्रव्य-काव्य एवं दृश्य काव्य।[2]

1. राजशेखर : काव्यमीमांसा, अध्याय 2, पृ॰ 5
2. भरतमुनिः ना॰ शा॰ (32/385) दृश्यश्रव्यत्वभेदेन पुनः काव्यं द्विधा मतम्।

इनमें से श्रव्यकाव्य के, शैली के आधार पर तीन भेद किए गए हैं– पद्यकाव्य, गद्यकाव्य और मिश्र काव्य[1]। छन्दोबद्ध पद पद्य, छन्दविहीन पद गद्य और गद्य-पद्य की मिश्रित शैली में निर्मित काव्य को मिश्र काव्य कहते हैं।[2] वैसे तो, रूपक, उपरूपक आदि भी मिश्रशैली में लिखे जाते हैं, पर वे दृश्य-काव्य के अन्तर्गत आते हैं।

काव्य में मिश्रशैली को अपनाने का उद्देश्य, गद्य-काव्य के अर्थ-गौरव तथा पद्य काव्य की रागमयता को एकत्र सन्निविष्ट करना है। श्रव्यकाव्य के अन्तर्गत प्रबन्धात्मक मिश्र काव्य का सर्वोत्कृष्ट अंग चम्पूकाव्य है।[3] 'चम्पू' शब्द की व्युत्पत्ति, चुरादि गण के गत्यर्थक 'चपि' से 'उ' प्रत्यय लगाकर 'चम्पयति इति चम्पूः' की गई है। इसके अनुसार, अन्य काव्यों की भांति चम्पू-काव्य में भी सहृदय हृदय को चमत्कृत, पवित्र, विस्मित और प्रसन्न करने की अद्‌भुत क्षमता होनी चाहिए।[4]

विभिन्न काव्यशास्त्रीय आचार्यों द्वारा चम्पूकाव्य की परिभाषाओं का समीक्षात्मक विश्लेषण कर, निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि गद्य-पद्य-मिश्रित काव्य, चम्पू-काव्य कहलाता है। इसमें गद्य-पद्य की मात्रा निश्चित नहीं है। गद्य और पद्य, वर्णन के किसी विशेष अंश के लिए सुरक्षित न रहकर समान रूप से व्यवहृत हुए हैं। चम्पू-काव्यों का अंगीरस कोई भी हो सकता है।[5]

वैसे तो गद्य-पद्य मिश्र शैली का आरम्भिक रूप ब्राह्मण ग्रन्थों के उपाख्यानों में उपलब्ध होता है, पर उपलब्ध चम्पू-काव्यों में प्रथम एवं साहित्यिक सौष्ठव की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण कृति त्रिविक्रम भट्ट कृत नल-चम्पू है।[6]

---

1. काव्यादर्श (1.11)-'गद्यं पद्यं च मिश्रं च तत् त्रिधैव व्यवस्थितम्।'
2. राजवंश सहाय 'हीरा'– भातीय साहित्यशास्त्र कोश:, पृ. 369
3. त्रिपाठी, छवि - चम्पू-काव्य का आलो॰ एवं ऐति॰ अध्ययन, पृ॰ 27
4. -वही, पृ॰ 38
5. गद्यपद्यमयं काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते। –सा. दर्पण, 6.336
   अपि द्रष्टव्य काव्यादर्श, 1.31, काव्यानुशासन 8.9, आदि
6. त्रिपाठी, छवि –वही, पृ॰ 101

संस्कृत-साहित्य के विशाल भण्डार में, चम्पू-काव्यों की संख्या सीमित है। इनका वर्णन-क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है-यात्रा-प्रबन्ध, ऐतिहासिक चरित्र, स्थानीय देवता तथा उनके महोत्सवों के वर्णन-सम्बन्धी काव्य भी उपलब्ध होते हैं।[1] सामान्यतया, चम्पू-काव्यों के लोकप्रिय स्रोत हैं-रामायण, महाभारत, पुराण, जीवन-चरित, तथा काल्पनिक कथाएं।[2]

कालक्रम की दृष्टि से दसवीं शती से पंद्रहवीं शती तक सीमित चम्पू रचे गए, पर ये काव्य-सौष्ठव-युक्त हैं। चम्पूकाव्यों का द्वितीय उत्थान-काल सोलहवीं शती के आरम्भ से लेकर सत्रहवीं शती का पूर्व चरण माना जा सकता है। (श्रीबल्लाल इसी कालावधि में हुए थे)।

इनका तृतीय उत्थान-काल सत्रहवीं शती के उत्तरार्द्ध से अठारहवीं शती के पूर्वार्द्ध तक हुआ तथा इसके पश्चात् का काल चम्पू काव्यों के ह्रास का काल है।[3]

उपर्युक्त तथ्यों के प्रकाश में देखने पर ज्ञात होता है कि भोजप्रबन्ध भी एक चम्पू है। चम्पू-काव्य का सर्वाधिक महत्त्वपूर्व लक्षण है (गद्य पद्यमयं काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते) तो इसमें प्राप्त होता ही है. साथ ही इसमें उपर्युक्त लक्षण में अविद्यमान तत्त्व प्रबन्धात्मकता भी मिलता है। प्रबन्धात्मकता, चम्पू-काव्य का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तत्त्व है, जिसके अभाव में चम्पू-काव्य प्रभावहीन तथा दुर्बल प्रतीत होते हैं[4]।

भोजप्रबन्ध के प्रणयन में श्रीबल्लाल कवि ने पद्यों का उत्कृष्ट उपयोग किया है। गद्य भाग कम ही है, पर जितना भी है, वह सरस तथा सरल है।[5] श्रीबल्लाल द्वारा किया गया गद्य एवं पद्य का यह नियोजन वस्तुतः, एक श्लाघ्य प्रयास कहा जा सकता है। गद्य-पद्यात्मक शैली में, भोजराज की कथा को, अपने उद्देश्य-पूर्ति हेतु, श्रीबल्लाल ने अद्भुत कल्पना से गति प्रदान की है। इस प्रकार भोज-प्रबन्ध एक कथा-संग्रहात्मक

1. वही, पृ॰ 260
2. वही, पृ॰ 260-270
3. वही, पृ॰ 276
4. वही, पृ॰ 40
5. द्रष्टव्यः इसी पुस्तक का तृतीय अध्याय : शिल्प-विवेचन।

चम्पू सिद्ध होता है। अब पहले इसके पद्यों तथा फिर गद्य भाग का विवेचन किया जा रहा है।

भोजप्रबन्ध में पद्य

भोजप्रबन्ध में 327 श्लोकों का सावधानी एवं युक्तिपूर्वक समावेश करके श्रीबल्लाल ने उसकी श्रीवृद्धि की है। इन पद्यों के अभाव में भोजप्रबन्ध सम्भवतः उस प्रसिद्धि से वंचित रह जाता, जो अद्य इसे प्राप्त है। ये सभी श्लोक श्रीबल्लालकृत नहीं हैं। इनमें से कुछ प्राचीन, प्रसिद्ध काव्यों में से लिए गए हैं तथा कुछ अन्य प्राचीन कवियों द्वारा रचित हैं। परन्तु, कवि श्रीबल्लाल ने अपने मनोवांछित की अभिव्यक्ति हेतु, जिस अनुपम प्रतिभा एवं नैपुण्य का परिचय, इनके संयोजन में दिया है, वह वस्तुतः सराहनीय है। कहीं भी ऐसा प्रतीत नहीं होता कि ये प्रक्षिप्त हैं अथवा अनुचित स्थान पर जोड़े गए हैं। इनमें कहीं भी तारतम्य का अभाव दृक्गोचर नहीं होता।

वर्ण्य-विषय की दृष्टि से, भोजप्रबन्ध के पद्यों को हम निम्नतया वर्गीकृत कर सकते हैं-

1. नीतिपरक पद्य एवं सुभाषित
2. समस्या-पूर्तिपरक
3. प्रकृति-चित्रण सम्बन्धी
4. भोज की स्तुतिपरक पद्य

भोजप्रबन्ध में नीति-तत्त्व

'सर्वलोकव्यवहारस्थितिर्नीत्या विना नहि' अर्थात् नीति के अभाव में लोक-व्यवहार की स्थिति असम्भव है। संस्कृत साहित्य में धर्म और शृंगार आदि की सतत् प्रवाहशील धाराओं के साथ-साथ नीति की धारा भी अतिप्राचीन काल से ही अविरलरूपेण बहती चली आ रही है। जीवन की गहन अनुभूतियों को, प्राचीन भारत के मनीषियों ने काव्यमयी भाषा में, जन-कल्याणार्थ प्रस्तुत किया है। इस प्रकार नीति, भूतकाल की उपलब्धियों का सार एवं वर्तमान युग की पथ-प्रदर्शिका होती है।

संकटावस्थ मानव को नीति की ये बातें बन्धु-जन एवं हितैषियों की भाँति, उचित मार्ग के अनुसरण की प्रेरणा सदा से देती आई हैं। नीति के इसी माहात्म्य को ध्यान में रखते हुए श्रीबल्लाल कवि ने नीति-परक मुक्त एवं पद्यों को यत्र-तत्र ग्रथित कर, भोजप्रबन्ध की श्रीवृद्धि की है। इन नीति-तत्त्वों के अवलोकन से पूर्व, यह जान लेना चाहिए कि नीति वस्तुतः क्या होती है और इसकी काव्य में क्या उपयोगिता है?

नीति शब्द 'णीञ् प्रापणे' धातु से निष्पन्न हुआ है, जिसका शाब्दिक अर्थ होता है, ले जाना। अतः, धातु की दृष्टि से नीति उसे कहा जा सकता है, जो ले जाने वाली हो। अर्थात् जो मानव को उचित मार्ग का निर्देश करे, वह नीति है। प्राचीन भारत के प्रसिद्ध नीतिकार शुक्र मुनि के अनुसार, नीति चतुर्वर्ग फल को प्रदान करने वाली है। साथ ही, नीतिशास्त्र समस्त संसार का उपकारक एवं समाज में मर्यादा को प्रतिष्ठित करने वाला होता है। नीतिमंजरीकार के अनुसार, जो नियम कर्तव्याकर्त्तव्य का सम्यक् निरूपण करते हैं, उन्हें नीति की संज्ञा दी जाती है।

वर्गीकरण

व्यवहार की दृष्टि से नीति को तीन भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है-

(1) व्यवहार नीति : इसके द्वारा प्रायः विविध लौकिक, सामाजिक एवं व्यावहारिक मर्यादाओं की रक्षा तथा उनके अनुकूल आचरण करने में मनुष्यों को प्रवृत्त किया जाता है।

(2) राजनीति : इसमें राजा, राज्य शासन सम्बन्धी नीति-तत्त्वों (यथा सप्तांग, कर-व्यवस्था आदि) का निर्देश किया जाता है।

(3) धर्मनीति : नीति का यह प्रकार, व्यक्ति की आध्यात्मिक उन्नति के साथ-ही-साथ, उसका भौतिक अभ्युदय-कारक भी होता है।

संस्कृत वाङ्मय में हमें नीति-वचन दो रूप में मिलते हैं-

(1) नीति ग्रन्थों के रूप में प्रतिपादित नीति।

इंसके अन्तर्गत, नीति-शास्त्र के प्रतिपादक उन ग्रन्थों को रखा जाता है, जिनका प्रधान उद्देश्य ही नीति सम्बन्धी विवेचन प्रस्तुत करना हो। यथा-चाणक्य नीति, नीति शतक, कामन्दक नीतिसार इत्यादि।

(2) कथा-काव्यों में उपलब्ध होने वाली नीति।

अत्यन्त विस्तृत एवं सुविशाल इस संस्कृत साहित्य में विकीर्ण रूप में, यत्र-तत्र उपलब्ध होने वाली नीति की उक्तियां इसी वर्ग में रखी जाती हैं। यथा-हितोपदेश, भोजप्रबन्ध इत्यादि। जब हम लोकरंजनार्थ प्रणीत भोजप्रबन्ध प्रभृति ग्रन्थों में भी नीति तत्त्वों का ऐसा समावेश देखते हैं तो अनायास ही यह प्रश्न उठ सकता है कि क्या वास्तव में हमें नीति-सम्बन्धी उपदेशों की आवश्यकता होती है?

अत्यन्त प्राचीन काल से ही, भारतीय मनीषियों ने अपनी अगाध अन्तश्चेतना एवं गहन मनन के द्वारा उपलब्ध जीवन की हृदयस्पर्शी अनुभूतियों को, समाज के लिए, नीति के रूप में प्रस्तुत करने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। नीति-उपदेशों की आवश्यकता का प्रश्न अवश्यमेव उनके समक्ष भी रहा होगा। महाभारत (शान्ति पर्व, 59 सर्ग) में, नीति-शास्त्र के उद्‌भव की ओर संकेत इस कथा में दिया गया है।

युधिष्ठिर द्वारा पूछे जाने पर भीष्म पितामह ने नीति शास्त्र के उद्‌भव की ओर संकेत किया। वे कहते हैं कि सृष्टि के आरम्भ में न कोई राजा था और न कोई दण्ड। समस्त प्रजाजन धर्म के सहारे एक-दूसरे की रक्षा करते थे, परन्तु कुछ ही समय पश्चात् मनुष्यों में धर्म का लोप हो गया। उनकी विवेक शक्ति क्षीण हो गई तथा उनके पाप-पथ पर चलने से, सारे संसार में हाहाकार मच गया। इस परिस्थिति से सन्त्रस्त हो, देवगण ब्रह्मा के पास गए और उन्होंने संसार में बढ़ती अनाचारिता को रोकने हेतु सम्बन्ध में उनसे निवेदन किया। ब्रह्मा ने विश्व को सन्मार्ग पर लाने के लिए एक नीति-शास्त्र की रचना की,

जिसमें एक लाख अध्याय थे। ब्रह्मा ने कहा कि इसके अध्ययन से लोक-रक्षा का ज्ञान उत्पन्न होगा। समाज में व्यवस्था स्थापित करने तथा प्रजा को सुख और शान्ति प्रदान करने का महान् कार्य इससे सम्पन्न होगा। परन्तु अत्यन्त विशालकाय होने तथा प्रजावर्ग की अल्पायु को ध्यान में रखकर शिव ने 'वैशालाक्ष' नामक इसका संक्षिप्त संस्करण तैयार किया। इन्द्र को यह भी बड़ा लगा तो उन्होंने 'बाहुदन्तक' नामक पाँच हज़ार अध्याय वाला और संक्षिप्त संस्करण कर डाला। बृहस्पति ने 'बार्हस्पत्य' नामक एक और लघु संस्करण निकाला। महर्षियों ने आयु का ह्रास देख, उसका क्रमशः संक्षिप्त रूप कर डाला। योगाचार्य शुक्र ने 'शुक्रनीति' नाम से इसका एक हज़ार अध्याय वाला एक संस्करण रचा।

इस कथा से स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य एक स्खलनशील प्राणी है और समय-समय पर उसके स्खलनशीलत्व से उत्पन्न सामाजिक दुर्व्यवस्था तथा नैतिक पतन के निवारण हेतु, भारतीय मनीषी प्राचीन काल से ही सगज एवं प्रयत्नशील रहे। जीवन के शिव एवं सुन्दर रूपी अक्षुण्ण आदर्श सदैव उनके समक्ष रहे और समय-समय पर दृष्टि-पथ में आने वाले दूषित कृत्यों एवं दुर्भावनाओं के विरुद्ध अपने विचारों को मुखरित करने में उन्होंने कभी कोई संकोच नहीं किया। इसी कारण से, यत्र-तत्र-सर्वत्र नीति की सूक्तिमुक्तामणियां हमें अनायास ही दृष्टिगोचर हो जाती हैं। वे महान् मनीषी सदैव इस बात के लिए सजग थे कि समाज और व्यक्ति के दोषों एवं दुर्भावनाओं को दूर किया जाए तथा उनके स्थान पर सद्गुणों और सद्भावनाओं का उन्नयन हो। यथार्थ का चित्र उपस्थित करते हुए भी समाज के उन्नायक तत्त्वों की ओर से वे कभी विमुख नहीं हुए। यही कारण है कि भारतवर्ष ने सदैव सबको चरित्र की शिक्षा प्रदान की है। मनीषियों की वे सूक्तियां सदा प्रत्येक व्यक्ति को सुख और दुःख में, उचित मार्ग के अनुसरण का निर्देश देते हुए, उसे कुपथ से हटाकर सुपथ की ओर प्रेरित करने में सतत् प्रयासरत रहती हैं और आचार्य मम्मट द्वारा निर्दिष्ट 'कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे' युक्ति से समाज के चारित्रिक एवं नैतिक उत्थान हेतु मार्ग-प्रशस्त करती है। आइये, अब इन्हीं तथ्यों के प्रकाश में, भोजप्रबन्ध में वर्णित नीति-तत्त्वों का अवलोकन करें।

पहले दिए गए वर्गीकरण की दृष्टि से, भोजप्रबन्ध में नीति-परक पद्यों के अध्ययन से हमें ज्ञात होता है कि श्रीबल्लाल एक व्यवहार-कुशल कवि हैं। इस ग्रंथ में नीति-सम्बन्धी अधिकांश पद्य व्यवहार-नीति से सम्बद्ध हैं। राजनीति सम्बन्धी पद्य दूसरे स्थान पर और धर्म-नीति सम्बन्धी पद्य तो नाममात्र को ही हैं। इसका एक कारण सम्भवतः यह हो सकता है कि श्रीबल्लाल जिन परिस्थितियों में भोजप्रबन्ध का प्रणयन कर रहे थे, उन परिस्थितियों में, राजनीति एवं धर्मनीति की अपेक्षा व्यवहार-नीति की आवश्यकता अधिक थी।

श्रीबल्लाल मनुष्य के अन्तर्मन की दुर्बलताओं से भली-भांति परिचित हैं। वे जानते हैं कि लोभ समस्त कुवृत्तियों एवं पापाचरणों का मूल है। इसीलिए भोजप्रबन्ध के प्रथम श्लोकत्रय में उन्होंने लोभ तथा उसके दुष्प्रभावों का निरूपण किया है-

लोभः प्रतिष्ठा पापस्य प्रसूतिर्लोभ एव च।
द्वेषक्रोधादिजनको लोभः पापस्य कारणम्।। 1।।

लोभात्क्रोधः प्रभवति क्रोधाद् द्रोहः प्रवर्तते।
द्रोहेण नरकं याति शास्त्रज्ञोऽपि विचक्षणः।। 2।।

मातरं पितरं पुत्रं भ्रातरं वा सुहृत्तमम्।
लोभाविष्टो नरो हन्ति स्वामिनं वा सहोदरम्।। 3।।

अर्थात् लोभ पाप का उत्पादक एवं निवास स्थान है। द्वेष, क्रोधादि दुर्गुणों का जनक तथा पापों का मूल कारण यह लोभ ही है। लोभ से क्रोध उत्पन्न होता है और क्रोध से द्रोह। अच्छा-भला शास्त्रवेत्ता विद्वान् भी द्रोह के वशीभूत हो नरक को जाता है। लोभ से घिरा मनुष्य, माता, पिता, भाई, उत्तम मित्र, स्वामी अथवा सगे भाई तक को मार देता है। इस प्रकार सभी दुर्गुणों के मूल कारण के प्रथमोल्लेख से श्रीबल्लाल कवि की बुद्धिमत्ता का परिचय प्राप्त होता है।

लोभ तथा तज्जन्य दुष्परिणामों का पहले श्लोकत्रय में विवेचन करने के उपरान्त श्रीबल्लाल ने अगले दो श्लोकों में सब दुर्गुणों से बचने के एकमात्र उपाय की कुंजी पाठकों के हाथ में दी है और वह

है 'विद्या'।[1] जो कि माता के समान रक्षा करती है, पिता के समान हित में नियुक्त करती है, कान्ता के समान खेद को हटा कर प्रसन्नता प्रदान करती है, दिशाओं में शुभ्र यशको फैलाती है, लक्ष्मी का वर्द्धन करती है, अतः कल्पलता के समान विद्या मनुष्य का कौन-सा हित नहीं करती? और विद्वान् सदा इस विद्या का अपनी वाणी से प्रकाशन करते हैं।

निर्धनता मनुष्य की एक और शत्रु है। और वह भी इतनी प्रबल है कि श्रीबल्लाल के अनुसार, 'अति विचित्र बात है कि जब मनुष्य निर्धन हो जाता है, तब वे ही स्वस्थ इन्द्रियां, वही नाम, वही तीक्ष्ण बुद्धि और वही वचन होने पर भी (वही) मनुष्य अन्य सा ही प्रतीत होता है।[2] और दरिद्रता की ही दूसरी मूर्ति है याचना[3] क्योंकि जैसा कि हम सभी जानते हैं कि क्षण मात्र बरसने वाला बादल सभी को मनोहर लगता है तथा प्रतिदिन अपने किरणरूपी हाथों को फैलाने वाला सूर्य सबको सन्ताप ही देता है[4]। श्रीबल्लाल मनुष्य के बिना मांगे ही आए हुए सुखों तथा दुःखों में दीनता (दैन्य) को अधिक विशेष मानते हैं[5]। और इस निर्धनता से पिण्ड छुड़ाने हेतु मनुष्य को उद्यम करना चाहिए क्योंकि देह की अपेक्षा न करने वाले, निपुण, व्यवसायी तथा बुद्धि पूर्वक कार्य करने वालों के लिए कुछ भी दुष्कर नहीं है[6]। बुद्धिमता से मनुष्य के सभी कार्य सिद्ध होते हैं। जिस प्रकार छत्रधारी को जलवृष्टि कुछ नहीं कर सकती, उसी प्रकार बुद्धि से कार्य करने वाले का शत्रुगण कुछ नहीं बिगाड़ सकते[7]।

---

1. भो॰ प्र॰, श्लोक 4, 5
2. वही, श्लोक 7
3. वही, श्लोक 100
4. वही, श्लोक 102
5. वही, श्लोक 157
6. वही, श्लोक 8
7. वही, श्लोक 15
   (बुद्धिमत्ता के स्वरूप तथा विवेचनार्थ श्लोक सं॰ 12, 13, 14, 16, 23, 24, 26, 36 भी अवलोकनीय हैं।)

मनुष्य के जीवन में दैव, भाग्य, अथवा काल का बड़ा महत्त्वपूर्ण हाथ होता है। प्राचीन काल से ही इसके महत्त्व को पहचानते हुए, भारतीय कवियों एवं मनीषियों ने अपनी रचनाओं में इसके स्वरूप तथा महत्त्व को प्रकाशित किया है। श्रीबल्लाल ने भी काल अथवा दैव का अनेक स्थानों पर उल्लेख कर, इसके प्रति अपना आदर व्यक्त किया है। उनके अनुसार, आदान-प्रदान तथा करणीय कर्मों को, मनुष्य को शीघ्रतापूर्वक करना चाहिए, अन्यथा काल उसकी सम्पत्ति को पी जाता है (नष्ट कर देता है)[1]। और भी श्रीराम का वनगमन, बलि-बन्धन, पाण्डवों का वनवास, यादवों का वंशोच्छेद, नल का राजच्युत होना, कारागार में वास तथा पुनः स्वयंवर में वरण, रावण का निधन, इत्यादि सभी तो कालवश होकर नष्ट हुए हैं, कौन बच सका है[2]?

इन सब के अतिरिक्त श्रीबल्लाल ने भोजप्रबन्ध में जगह-जगह मूर्खता[3], विद्वान्[4], कृपण[5], धन[6], मित्र[7], दुष्ट[8], यश[9], प्रेम[10], एकता[11], शक्ति[12], आपत्ति[13], पौरुष[14], चित्त[15], तथा दान[16] आदि तत्त्वों से सम्बद्ध नीतिपूर्ण कथनों से इसे व्यावहारिक नीति का एक अत्यन्त शिक्षाप्रद ग्रन्थ बनाने का श्लाघ्य प्रयास किया है।

---

1. भो॰ प्र॰, श्लोक 11
2. वही, श्लोक 28, (श्लोक सं॰ 20, 21, 28, 29, 30, 31, 35, 38, 42, 54, 143, 144, 318 भी द्रष्टव्य)।
3. वही, श्लोक 12, 97, 135, 193
4. वही, श्लोक 12, 56, 128
5. वही, श्लोक 70, 117, 130, 132
6. वही, श्लोक 60, 63, 198
7. वही, श्लोक 78, 146, 147, 148
8. वही, श्लोक 39, 40
9. वही, श्लोक 53, 55, 120, 121 (शोभा) - 126, 131, 152, 308
10. वही, श्लोक 136, 137
11. वही, श्लोक 145
12. वही, श्लोक 151
13. वही, श्लोक 155, 156
14. वही, श्लोक 168, 169, 170, 171
15. वही, श्लोक 37, 81, 88, 90
16. वही, श्लोक 65, 71, 91, 103, 105, 106, 107, 116

राजनीति-परक पद्य

जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है, श्रीबल्लाल 16वीं शती में हुए थे। यह समय भाँति-भाँति की राजनैतिक गतिविधियों से आन्दोलित था। ऐसे समय की कोई भी रचना राजनीति से सर्वथा अछूती कैसे रह सकती थी? और फिर, भोजप्रबन्ध में हमें राजनीति सम्बन्धी पद्य भी प्राप्त होते हैं।

इस ग्रन्थ में प्राय: 15 पद्यों में ऐसे वर्णन हैं, जिन्हें राजनीति से सम्बद्ध कहा जा सकता है। इनकी संख्या इतनी कम होने का एक कारण संभवत: श्रीबल्लाल की राजनीति से अरुचि तथा दूसरा कारण, संस्कृत वाङ्मय में राजनय संबंधी, अनेकानेक ख्यातिलब्ध आचार्यों द्वारा प्रणीत ग्रंथों (यथा चाणक्य-नीति, कामन्दक नीति सार, विदुर नीति इत्यादि) का बाहुल्य, भी हो सकता है।

भोजप्रबन्ध में, राजा से संबद्ध नीति तत्त्वों का ही विवेचन प्राप्त होता है। श्रीबल्लाल के अनुसार, प्रजा सदा ही राजा की अनुवर्तिनी होती है, यदि राजा धर्मनिष्ठ है तो प्रजा भी होगी और यदि वह ही व्यभिचारी है, तब भी प्रजा उसकी अनुगामिनी होगी[1]। अतएव, राजा को अपने आचरण का ध्यान रखना चाहिए।

साथ ही राजा को यह भी ध्यान रखना चाहिए कि वह मन्त्री या स्त्रियों अथवा रानियों पर आवश्यकता से अधिक विश्वास न करे। उनकी मंत्रणा भले ही सुन ले, पर उन्हीं के वशीभूत होकर न रह जाए। अन्यथा उसका अकल्याण होता है। वैसे राजा के पास बुद्धिमान् मनुष्य प्रथम तो स्वेच्छावश जाते ही नहीं और यदि परिस्थितिवश उन्हें जाना ही पड़ जाए तो राजा के दुष्ट मन्त्री आदि के वश में होने से इन पण्डितों को वहां उपेक्षित होना पड़ता है। इन्हीं प्रौढ़ भावों का संयोजन हमें भोजप्रबन्ध के पद्यों[2] में प्राप्त होता है।

---

1. भो॰ प्र॰, श्लोक 44
2. भो॰ प्र॰, श्लो॰ 49, 50, 51, 140

राज्य के सप्तांग सिद्धान्त की चर्चा प्राय: सभी प्रमुख नीतिशास्त्रकारों ने अपने-अपने ग्रन्थों में की है[1]। राज्य के ये सात अंग हैं-स्वामी, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोश, दंड और मित्र। श्रीबल्लाल ने अत्यन्त युक्तिपूर्वक एक ही पद्य में इनमें से पाँच अत्यधिक महत्त्वपूर्ण अंगों का समावेश किया है, जो कि उनकी लाघवप्रियता के प्रमाण के रूप में उद्धृत किया जा सकता है। वे कहते हैं कि-

स जयी वरमातङ्गा यस्य तस्यास्ति मेदिनी।
कोशो यस्य स दुर्धर्षो दुर्गं यस्य स दुर्जयः।।[2]

अर्थात् जिसकी (राजा की) भूमि (राज्य), हाथियों से पूर्ण है (अर्थात् पराक्रमी सेना से रक्षित है) तथा जिसके पास कोश है तथा दुर्ग है, ऐसे राजा को कोई नहीं जीत सकता।

साथ ही, राजा का क्रोध तथा प्रसाद दोनों ही समानरूपेण फलदायी होने चाहिएं। श्रीबल्लाल के अनुसार, जिसकी प्रसन्नता से कोई लाभ नहीं तथा जिसके कोप से कोई भयंभीत न हो, उस राजा को प्रजा उसी तरह नहीं चाहती, जिस तरह किसी क्लीव को स्त्रियां[3]। ये उपमा किंचित कटु अवश्य है, पर वर्ण्य की गंभीरता के प्रतिपादन के लिए काफी सटीक प्रतीत होती है।

राजा शासन का सर्वेसर्वा होता है। परन्तु, इस तथ्य को उसे कभी भी विस्मृत नहीं करना चाहिए कि उसे लोक-रंजन के लिए राजा बनाया गया है। इसी भाव को श्रीबल्लाल ने निम्नलिखित पद्य में व्यक्त किया है-

हिरण्यधान्यरत्नानि धनानि विविधानि च।
तथान्यदपि यत्किञ्चित्प्रजाभ्यः स्युर्महीभृताम्।।[4]

---

1. अर्थशास्त्र 6.1, मनु॰ 9. 294., महा॰ शां॰ प॰ 69.62, 63, विष्णुधर्मो॰ 3.33, याज्ञ॰-1. 353, शु॰ नी॰ सा॰, 1.61
2. भो॰ प्र॰, श्लोक 59
3. वही, श्लोक 47
4. वही, श्लोक 43

अर्थात् सुवर्ण, धान्य, रत्न, धन तथा विविध वस्तुएं, जो भी कुछ राजा का होता है, उसमें प्रजा का भी अधिकार होता है। इसीलिए, राजा को दान देना चाहिए क्योंकि जनवर्ग सदैव दाता को चाहता है, धनवान् को नहीं, जिस प्रकार वारिद (बादल : देने वाला) की आकांक्षा तो लोग करते हैं पर वारिधि (समुद्रः भण्डार) की नहीं[1]।

राजा का कर्तव्य यह भी है कि वह अपने राज्य में सद्‌गुणों के उन्नयन के लिए गुणियों को अवसर प्रदान करे। यही भाव प्रकट होता है इस श्लोक में, जहाँ श्रीबल्लाल ने महाराज भोज के मुख से कहलवाया है कि राजा गुणों (कला) का आदर करता है, कुलीनता का नहीं। जिस प्रकार, अनेक देवों के होने पर भी भगवान् शंकर ने कलावान् चन्द्र को ही सिर पर धारण किया था।[2]

श्रीबल्लाल के अनुसार, राजा को कवियों का भी विशेष आदर करना चाहिए क्योंकि कवियों द्वारा राजा के लिए की गई स्तुतियाँ युगों तक उसके यश की पताका को फहराती हैं। वे कहते हैं कि राजा का नाम बिना कविता के प्रसिद्ध नहीं होता और राजा के बिना कवि की भी कीर्ति संसार में नहीं फैलती। इसलिए, योग्य कवियों को आश्रय देने में, राजा को तत्पर रहना चाहिए[3]। इस प्रकार, श्रीबल्लाल ने अत्यन्त युक्तिपूर्वक, कवियों को अप्रत्यक्ष रूप से लाभान्वित किया है क्योंकि यदि कवियों को राज्याश्रय मिलेगा, तो निश्चय ही उनका कल्याण होगा।

धर्म के सम्बन्ध में, श्रीबल्लाल के विचार बड़े ही स्पष्ट हैं। किसी धर्मोपदेशक के समान, उन्होंने बालक भोज के मुखाम्भोज से धर्म से सम्बद्ध ये गूढ़ विचार प्रस्तुत किए हैं–

'एक एव सुहृद्धर्मो निधनेऽप्यनुयाति यः।
शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यत्तु गच्छति।।[4]

---

1. वही, श्लोक 64, अपि च श्लोक 65
2. वही, श्लोक 68
3. भो॰ प्र॰, श्लोक 120
4. वही, श्लोक 32

अर्थात् धर्म ही एक ऐसा सुहृद् है, जो कि मृत्यु के उपरान्त भी मनुष्य के पीछे-पीछे जाता है, अन्य सब तो देह के साथ ही विनष्ट हो जाते हैं। कितनी सच्चाई एवं कितना गहन चिन्तन इस श्लोक में दृक्गोचर होता है। श्रीबल्लाल आगे कहते हैं-

न ततो हि सहायार्थे माता भार्या च तिष्ठति।
न मित्रपुत्रौ न ज्ञातिर्धर्मस्तिष्ठति केवलः॥[1]

अर्थात् मृत्यु के समय माता, भार्या, पुत्र, मित्र तथा जाति वाले (सगे-संबंधी) कोई भी सहायता के लिए साथ नहीं होते। (उस समय तो) केवल धर्म ही साथ रहता है। अपि च, धर्म से पराङ्मुख जन के विषय में श्रीबल्लाल का विचार है-

बलवानप्यशक्तोऽसौ धनवानपि निर्धनः।
श्रुतवानपि मूर्खश्च यो धर्मविमुखो जनः॥[2]

अर्थात् ऐसा मनुष्य जो धर्म से विमुख हो, वह बलवान् होने पर भी निर्बल, धनवान् होने पर भी निर्धन और विज्ञ होने पर भी अज्ञ होता है।

भोजप्रबन्ध में, एक स्थान पर, श्रीबल्लाल ने पूर्व कर्मों के फलों के विषय में अपने विचार प्रस्तुत किए हैं। 'कर्म' भारतीय दर्शन के मूलभूत तत्त्वों में अन्यतम है। भारतवर्ष में उपनिषद् काल में कर्म-सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ था, और तत्पश्चात् वेदमूलक दर्शनों के समान जैन तथा बौद्ध दर्शनों ने भी इसे वहीं से ग्रहण किया।[3] सभी भारतीय दर्शनों की मान्यताओं के अनुसार, जो कुछ कार्य हम अपने प्रयत्न से करते हैं, उसका फल अवश्य उत्पन्न होता है, उसका नाश कथमपि नहीं होता और जिस फल को हम इस समय भोग रहे हैं, वह पूर्व जन्म में कृत कर्म का ही परिणाम है। (कर्म-सिद्धान्त को मानने से ही, विश्व में यदृच्छा का स्थान समाप्त हो जाता है और सर्वत्र नैतिक सुव्यवस्था का साम्राज्य स्थापित होता है।) इसी प्रकार के भावों को श्रीबल्लाल ने श्लोक संख्या 304, 305 एवं 306 में यह कहकर मुखरित किया है कि-

1. वही, श्लोक 33
2. भो॰ प्र॰, श्लोक 34
3. भारतीय दर्शन-बल॰ उपा॰, पृ॰ 23

अयि खलु विषमः पुराकृतानां
भवति हि जन्तुषु कर्मणां विपाकः॥

श्लोक सं॰ 199, भी ऐसे ही भावों से परिपूर्ण है।

इस प्रकार, ये श्रीबल्लाल के धर्म सम्बन्धी विचार थे। जैसा कि पहले उल्लिखित है, धर्म सम्बन्धी अनेकानेक प्रौढ़ ग्रन्थों की उपलब्धता ने ही संभवतः भोजप्रबन्ध में श्रीबल्लाल को धर्म-सम्बन्धी अन्योन्य विचारों के ग्रथन से रोका हो।

यहाँ तक, भोजप्रबन्ध में आगत, नीति तत्त्वों का अध्ययन किया गया है। इनके अध्ययनोपरान्त, निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि श्रीबल्लाल वास्तव में एक कुशल नीतिज्ञ हैं और इन्होंने नीति सम्बन्धी (विशेषकर व्यवहार नीति से सम्बद्ध) तत्त्वों का जो प्रौढ़ प्रणयन भोजप्रबन्ध में किया है, वह सर्वथा स्तुत्य है। साथ ही राजनय तथा धर्म-सम्बन्धी उनके विचार भी स्पष्ट एवं परिपक्व हैं। भोजप्रबन्ध में इनके सुन्दर समावेश से कविवर इस ग्रन्थ को और अधिक श्रीयुक्त तथा लोकहितकारी बनाने में सफल हुए हैं।

समस्या-पूर्ति परक पद्य

भारतवर्ष में, अति प्राचीन काल से ही शारीरिक विकास के साथ-साथ, मनुष्य के बौद्धिक विकास की आवश्यकता को भी समझते हुए, उसके हेतु प्रयास किए जाते रहे। इस प्रकार के मस्तिष्क-व्यायाम को प्रहेलिका कहा जाता है। वैदिक काल से ही ये प्रयोग में लाई जाने लगी थीं। तब इन्हें प्रवलिका कहा जाता था और ये मुख्यतया आध्यात्मिक, आस्तिकतावादी विचारों कीं पोषक तथा कर्मकाण्ड-परक होती थीं।[1]

प्राचीन भारत में सदा से यह मान्यता समादृत होती आई है कि समय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं बलशाली होता है। और बुद्धिमान् मनुष्य सदैव इस तथ्य का स्मरण रखते हुए समय के सदुपयोग हेतु प्रयासरत

1. प्रो॰ स्टर्नबक, लुडविगःइण्डियन रिडल्सःअ फारगॉटन चैप्टर इन द हिस्ट्री आफ सं॰ लिट॰, पृ॰ 7

रहते हैं। इन लोगों का समय मूर्खों की भांति व्यर्थ के वार्तालाप में नहीं, अपितु, काव्य-शास्त्र विनोद में व्यतीत होता है। कहा भी गया है-

'काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम्।।'

और समय के साथ-साथ ही, राजा सभी प्रकार के कार्य-कलापों का केन्द्रबिन्दु बन गया और उसकी सभा सभी विद्वानों, कवियों एवं अन्य बुद्धिमानों की आश्रय-स्थली। राज्य के सात अंगों से एक सुदृढ़ राज्य की स्थापना होती है; इसी सप्तांग-सिद्धान्त की मान्यता के अनुरूप एक अन्य मान्यता का उदय हुआ, सभा के सप्तांग की!

इसके अनुसार, सात अंगों से ही एक उत्तम सभा का निर्माण होता है। ये सात हैं-

विद्वान्, कवि, भाट, विदूषक, गायक, इतिहासज्ञ एवं पुराणज्ञ।

विद्वांसः कवयो भट्टा गायकाः परिहासकाः।
इतिहासपुराणज्ञाः सभा सप्तांग-संयुक्ता।।

इस सभा में अनेक प्रकार के मनोविनोद हुआ करते थे। उन्हीं में से एक था- समस्या-पूर्ति। इसे चौंसठ ललित कलाओं में स्थान दिया जाना, इसके महत्त्व को घोषित करता है। महाकवि बाण के समय तक आते-आते इसकी अवधारणा में पर्याप्त अन्तर आ चुका था। वैदिक प्रवलिका अब लौकिक प्रहेलिका बन गई थी और यह यज्ञ-स्थलों से निकल कर राजसभाओं में प्रतिष्ठित हो चुकी थी। महाकवि बाण ने कादम्बरी में, राजाओं में होने वाले मनोविनोदों में, इसका भी उल्लेख किया है।[1]

भारतीय काव्यशास्त्र में भी, प्रहेलिकाओं पर, भिन्न-भिन्न आचार्यों ने अपने-अपने मत प्रस्तुत किए हैं। उल्लेखनीय है कि-भोजराज के 'सरस्वतीकण्ठाभरणम्'[2] को छोड़कर, अन्य काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में प्रहेलिकाओं को विशेष स्थान नहीं दिया गया है। भामह (2.9-10)

1. द्विवेदी, हजारी प्रसादः प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद, पृ॰ 171
2. इसमें छह श्रेणियों में पहेलियों का विभाजन प्राप्त होता है।

कहते हैं कि प्रहेलिकाएँ यमक के प्रयोग से, अर्थ को गूढ़ बना देती हैं। साथ ही वे यह भी अनुभव करते हैं, कि प्रहेलिकाएं बिना व्याख्या अथवा टीका के अव्याख्येय होती हैं और ये बुद्धिमानों के लिए आनन्द स्रोत होती हैं और मूर्खों को लज्जित करने का साधन!

मम्मटाचार्य ने तो प्रहेलिकाओं का उल्लेख ही नहीं किया है, केवल चित्रकाव्य की ही बात कही है।[1] हेमचन्द्र (काव्यानुशासन 5.4) ने प्रहेलिका को क्रीडा माना है और उनके मत में, इसकी कोई काव्यात्मक उपादेयता नहीं है। आचार्य विश्वनाथ ने च्युताक्षर, दत्ताक्षर और च्युतदत्ताक्षर नामक इन तीन ही प्रहेलिकाओं का उल्लेख किया है।[2] इसी प्रकार, ध्वन्यालोक में भी है। सामान्यतया, हम यह देखते हैं कि पूर्ववर्ती काव्यशास्त्रीय आचार्यों ने तो फिर भी इसे साहित्यिक विधा मानते हुए, कुछ महत्त्व प्रदान किया है, परन्तु उत्तरवर्ती आचार्यों ने इसे केवल क्रीड़ा ही माना है।

प्रहेलिकाओं के विषय में विभिन्न सुभाषित-संग्रहों में हमें क्रमबद्ध विवरण प्राप्त होता है। इन संग्रहों में, इनका बारह प्रमुख भागों और अनेक अवान्तर भागों में विभाजन किया गया है। इन्हीं के अन्तर्गत छठा विभाग है आलाप-प्रहेलिकाओं का।

आलाप-प्रहेलिकाएं मुख्यतः दो प्रकार की होती थीं-अन्तरालापः (सुभाषित रत्न भाण्डागार एवं सुभाषित सुधारत्न भाण्डागार) अथवा अन्तर्लापिका (सुभाषित रत्नाकर) तथा बहिरालापः (सुभाषित रत्न भाण्डागार एवं सुभाषित सुधारत्न भाण्डागार)। आलाप-प्रहेलिकाएं प्राचीन भारत में, प्रचलित प्रहेलिकाओं में सर्वाधिक विख्यात थीं।[3] आलाप शब्द लप् से बना है, जो बोलने के अर्थ में प्रयुक्त होती है। इस प्रकार, आलाप का अर्थ हुआ, बोलना या पूछना। अन्तरालाप प्रायः अब उन प्रहेलिकाओं को कहा जाता था, जो अपने ही में अपने उत्तर भी समाहित

1. का॰ प्र॰, का॰ 5, सूत्र 4, पृ॰ 32
2. सा॰ द॰: दशम परि॰, पृ॰ 291
3. सुभाषित सुधारत्न भाण्डागार में 461 उल्लिखित प्रहेलिकाओं में से 171 मात्र अन्तर् या बहिर् आलाप प्रकार की हैं।

किए रहती है। पर सभी अन्तरालाप-प्रहेलिकाओं में उत्तर समाविष्ट हुए रहते हों, ऐसा नहीं है। कभी-कभी ये प्रहेलिकाएं तीन पादों में निबद्ध की जाती हैं और श्रोता से इसका चतुर्थ चरण अपेक्षित होता है, जो कि इस प्रहेलिका का उत्तर भी लिए हुए हो। साथ ही, यह चतुर्थ पाद छन्दतः भी ठीक होना चाहिए, जिससे कि श्लोक की पूर्ति हो सके। इस प्रक्रिया से अन्तरालाप प्रहेलिका की प्रकृति में किंचिदन्तर हो जाता है और ये समस्या-अन्तरालाप-प्रहेलिका बन जाती है।[1]

समस्या-अन्तरालाप-प्रहेलिका अथवा समस्या-पूर्ति, जिसे काव्य-समस्या पूरण अथवा समस्याख्यान अथवा समस्या-पूरण-विधि (यशोधर कृत कामसूत्र की टीका में) भी कहा जाता है। सम+अस्य इस विग्रह के अनुसार, इसका अर्थ हुआ, 'पूरा करना'। समस्या-पूर्ति का यह मनोविनोद प्राचीन भारत में अति प्रसिद्ध था और चौंसठ ललित कलाओं में स्थान पाता था[2]। इसी मनोविनोद के विभिन्न आयामों के सुन्दर निदर्शन हमें भोजप्रबन्ध में प्राप्त होते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि मानो श्रीबल्लाल ने समस्यापूर्ति की विविध परिकल्पनाओं को सार रूप में यहाँ प्रस्तुत किया है। भोजप्रबन्ध में, समस्या-पूर्ति का ऐसा सांग वर्णन हुआ है कि प्रसिद्ध भारतीविद्याविद् प्रो॰ लुडविग स्टर्नबक ने इस विधा के सारे उदाहरणों के लिए इसका ही आश्रय लिया है।

अब हम भोजप्रबन्ध में आगत समस्या-पूर्ति वाले अंशों का अनुशीलन करते हैं। भोजप्रबन्ध के 327 श्लोकों में से कुल 33 श्लोक इसी मनोविनोद से सम्बद्ध हैं।[3] मुख्यतः यह इस प्रकार होता था कि

---

1. लुडविग स्टर्नबक : -वही, पृ॰ 77
2. वही, पृ॰ 78 तथा द्विवेदी, हजारीप्रसाद : प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद, पृ॰ 186 (वात्स्यायन-सूची) 33वीं विद्या
3. भोज एवं कालि॰ (112, 142, 154, 258, 265, 292-6, 302-3, 317); भोज, बाण, महेश्वर, कालि॰ (161); भोज एवं एक ब्राह्मण (185); भोज एवं ब्राह्मण परिवार (168-171); भोज एवं व्याध-पत्नी (182); भोज, भवभूति, दण्डी, कालि॰ (320); भोज एवं भवभूति (293); भोज एवं शंकर (75); भवभूति, भोज एवं कालि॰ (304-6); भोज एवं चोर (200, 236); भोज एवं उसका प्र॰ म॰ (198); ब्रह्मराक्षस एवं कालि॰ (307); कविद्वय एवं कालि॰ (86); अश्विनौ एवं कालि॰ (322)।

वक्ता (समस्या को देने वाला) श्लोकांश (एक, दो अथवा तीन पाद) बोलता था और श्रोता (समस्या-पूर्ति करने वाले) से यह अनुरोध करता था कि वह इसे पूर्णता प्रदान करे। भोजप्रबन्ध में श्रीबल्लाल ने इसके अनेकानेक उदाहरण स्थान-स्थान पर दिए हैं। उदाहरणार्थ, वह वृत्तान्त जब राजा ने प्राकृत में एक श्लोकार्द्ध कहकर सभा में उपस्थित विद्वानों से उसकी पूर्ति के लिए कहा। महाकवि बाण के अनुरोध पर उन्हें समस्या-पूर्ति हेतु दस दिवस का समय दिया गया और कहा गया कि यदि नियतावधि में इसकी पूर्ति न की गई तो, ये विद्वान् फिर सभा में न आएं। महाकवि कालिदास के अभाव में, वे इसकी पूर्ति में असमर्थ रहे। (कालिदास उन दिनों रानी के साथ भ्रष्टाचरण के मिथ्यारोप से अभियुक्त हो, एक वारांगना विलासवती के घर में समय व्यतीत कर रहे थे)। जब वह विद्वत्समाज, समस्यापूर्ति न कर पाने के कारण, नवम दिवस की रात्रि को, अपने सामान के साथ, महल से निकल, नगर छोड़कर जाने के मार्ग पर विलासवती के घर के पास से निकला, तो महाकवि कालिदास ने वेष बदलकर, उस समस्या का समाधान कर दिया और उन लोगों का नगर-बहिर्गमन रुक गया तथा राजा ने उन्हें पुरस्कृत किया[1]।

जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है, इस मनोविनोद में प्रायशः ऐसा होता था कि, श्लोक का एक भाग बोला जाता था और श्रोता से यह अपेक्षित होता था कि वह उसकी पूर्ति करे, पर यह पूर्ति अनेक प्रकार से की जा सकती थी। सामान्यतया, वक्ता, श्लोक का आरम्भ (अथवा चरण क, ख) कह देता था और श्रोता को उसी छन्द में उसकी पूर्ति (अर्थात् चरण 'ग' एवं 'घ' की रचना) करनी होती थी। वैसे, समस्या के श्रोता के लिए यह वैकल्पिक होता था कि वह प्रदत्तांश को उत्तरार्द्ध के स्थान पर रखकर, उसके पूर्वार्द्ध की रचना कर, उसे पूरा करे। इस प्रकार की गई समस्या की पूर्ति हमें भो॰ प्र॰ के श्लोक 112 में प्राप्त होती है, जहाँ राजा भोज कहते हैं कि 'मैं (मानसरोवर की

1. भो॰ प्र॰, श्लोक 165

भांति) कवियों के मानस को प्रणाम करता हूँ (जहाँ) प्रतिभा रूपी जल के ऊपर तैरते हैं', 'तब महाकवि कालिदास इसकी पूर्ति 'जहाँ हंसों की भांति चौदहों लोक' यह कहकर करते हैं।[1]

कभी-कभी, समस्या का वक्ता, एक पाद बोलता था और दो अथवा तीन अन्य व्यक्ति, उसके अवशिष्टांश की पूर्ति करते थे। इसका उदाहरण है, इस ग्रन्थ का 320 वां पद्य, जिसमें भवभूति ने चरण 'क' बनाया, दण्डी ने चरण 'ख' कहा और महाकवि कालिदास ने चरण 'ग' और 'घ' का निर्माण किया। इसी प्रकार, एक अन्य पद्य में, एक 'कवि' ने चरण 'क' बनाया; एक अन्य 'कवि' ने पाद 'ख' बनाया और महाकवि कालिदास ने चरण 'ग' तथा 'घ' की रचना की[2]। एक अन्य उदाहरण है, जिसमें भोजराज समस्या का प्रथम पाद कहते हैं, बाण कवि द्वितीय पाद कहते हैं; महेश्वर कवि तृतीय बनाते हैं, और महाकवि कालिदास उसका चतुर्थ चरण रचकर, उसे पूर्ति प्रदान करते हैं।[3] इस प्रकार, हम देखते हैं कि ऐसी अनेक संरचनाओं की परिकल्पना की जा सकती थी, इसे नूतन और सजीव बनाने के लिए।

समस्या-पूर्ति, उस समय पर्याप्त कठिन तथा दुर्गम हो जाती थी, जब समस्या का वक्ता केवल कुछ निरर्थक ध्वनियों का उच्चारण, समस्या के रूप में करता था। ऐसा प्रसंग हमें मिलता है, भोजप्रबन्ध के एक पद्य में, जहाँ भोजराज समस्या-पूरणार्थ एक चरण कहते हैं, जो केवल अघोष एवं सघोष 'ट' अक्षर से बना है। महाकवि कालिदास, अपनी प्रतिभा से समस्या-प्रश्न को चतुर्थ चरण बनाकर, शेष तीन चरणों में उसका समाधान प्रस्तुत करते हैं, जिसमें कि उन्होंने समस्या प्रश्न में प्रदत्त ध्वनि की तुलना, एक गिरते हुए स्वर्ण-पात्र से निकलती हुई ध्वनि से की है[4]। इसी प्रकार का एक अन्य उदाहरण मिलता है, जहाँ भोजराज 'गुलुग्गुलु............' इस प्रकार कहते हैं और महाकवि कालिदास,

---

1. भो॰ प्र॰, श्लोक 112
2. वही, श्लोक 78,
3. वही, श्लोक 161
4. वही, श्लोक 317

जामुनों के पानी में गिरने की ध्वनि के रूप में इसका चित्रण कर, समस्या-पूर्ति करते हैं।[1]

सामान्यतः, समस्या-प्रश्नों को पूर्ण पाद के रूप में होना चाहिए, पर अपवादस्वरूप, ये कहीं-कहीं केवल कुछ अक्षरों में भी निबद्ध किए जाते थे। इसका उदाहरण है, ब्रह्म-राक्षस वाला वृतान्त।[2] भोजराज के एक नव निर्मित प्रासाद में, एक ब्रह्म-राक्षस अपना निवास बना लेता है और उसमें प्रवेश करने वालों से वह प्रश्न पूछता है, जिनके उत्तर न मिलने पर वह श्रोता को मार देता है। अनेकानेक प्रयत्नों से भी वह वहाँ से निकाला न जा सका। तब महाकवि कालिदास वहाँ गए। उनसे भी ब्रह्मराक्षस ने पाणिनि के चार विभिन्न सूत्र (8.1.1; 1.2.65, 4.1.93, 1. 2.66) जो चार दीर्घ कठिन मात्राओं से निर्मित थे, समस्या-रूप में पूछे। महाकवि ने बिना किसी विशेष कठिनाई के, प्रत्येक पाद की पूर्ति कर दी, क्योंकि उनसे केवल यही अपेक्षित था कि उनके उत्तर में, प्रत्येक पाद की प्रथम चार मात्राएँ दीर्घ हों और चतुर्थ मात्रा के उपरान्त यति हो। ऐसा केवल एक ही छन्द (मन्दाक्रान्ता) सुप्रसिद्ध है, जिसमें उपरोक्त लक्षण विद्यमान हैं। एतदर्थ, महाकवि ने इस समस्या के समाधानार्थ मन्दाक्राता का ही उपयोग किया और उस ब्रह्मराक्षस से, उस भवन को मुक्त कराया।

परन्तु कभी-कभी, जब समस्या-प्रश्न किसी ज्ञात छन्द में निबद्ध नहीं होता था, तब समस्या का श्रोता दुविधाग्रस्त हो जाता था। इसके उदाहरणार्थ श्लोक देखते हैं, जिसमें समस्या-प्रश्न है-

'अप्रतिपत्ति मूढमनसा द्वित्रा स्थिता नाडिका।'[3]

अर्थात्, यह एक 17 मात्रिक छन्द है जिसमें कि भ, र, न, म, य, ल और ग हैं। महाकवि कालिदास ने श्लोकारम्भ में तीन मात्रिकों की सहायता से इसे हल किया। उन्होंने इसमें 'देवेन' पद जोड़ दिया, जिससे इसका अर्थ भी परिवर्तित नहीं हुआ और यह 17 के स्थान पर 19 मात्रिक हो गया और यह हमारा सुपरिचित शार्दूलविक्रीडित छन्द बन गया।

---

1. वही, श्लोक 295
2. वही, श्लोक 307
3. वही, श्लोक 302

तर्कपूर्ण, सुमतियुक्त तथा साथ ही छन्दतः भी सही, ऐसी समस्या-पूर्ति करना वस्तुतः अत्यन्त कठिन एवं बुद्धिमत्तापूर्ण कार्य था। इसका सुन्दर निदर्शन है, नर्मदा-प्रस्तर खण्ड समस्या[1]। एकदा धीवरों को नर्मदा के बृहत्सरोवर में एक प्रस्तर खण्ड मिलता है, जिस पर किंचिध्धूमिल शब्दों में कुछ अंकित है। यह भोजराज के समक्ष लाया जाता है, जो उन शब्दों को पढ़कर, भवभूति से उस श्लोक को पूरा करने के लिए कहते हैं। भवभूति समस्या-पूर्ति करते हैं (श्लोक 304) परन्तु, उसमें राजा को ध्वनि-दोष दिखता है। तब स्वयं राजा उसके अर्द्धांश को दूसरी तरह से पढ़कर (श्लोक 305); महाकवि कालिदास से उसकी पूर्ति के लिए कहते हैं। कालिदास सन्तोषप्रद रूप से उसकी पूर्ति कर देते हैं (श्लोक 306) और राजा उसे सुन आनन्दित होते हैं।

और कभी-कभी, समस्या-पूर्ति वाले श्लोक न केवल छन्दतः और अन्य सब प्रकार से सही होते थे, अपितु, श्लोक के सौन्दर्य को बढ़ाने के लिए, उनमें गेयात्मकता का भी समावेश कर दिया जाता था। प्रो॰ लुडविग स्टर्नबक् के अनुसार[2],यह संस्कृत साहित्य एवं काव्यशास्त्र में एक अत्यन्त विरलतया पाई जाने वाली घटना है। पर भोजप्रबन्ध में हमें यह भी श्लोक 161 में मिल जाती है। इसके लिए श्रीबल्लाल सराहना के पात्र हैं।

जिन श्लोकों की रचना को, उस समस्या के श्रोता द्वारा पूर्णता प्रदान की जाती थी; वे न केवल बुद्धिमत्तापूर्ण तथा तर्कयुक्त ही हों, अपितु काव्यशास्त्रीय दृष्टिकोण से भी वे सही हों; ऐसी अपेक्षा श्रोता से की जाती थी। उत्तम समस्या-पद्य, अपनी पूर्ति के उपरान्त, सुन्दर सुभाषितों के रूप में उभरकर आएं और उन्हें देखने से यह प्रतीति न हो कि ये एकाधिक कवि द्वारा रचे गए हैं; ऐसी चेष्टा में कवि प्रयासरत रहते थे। बहुधा इनकी रचना में प्राप्त अभिन्नता के कारण, सुभाषित संग्रहों में इन सुन्दर श्लोकों को किसी अज्ञात कवि अथवा किसी एक ही कवि द्वारा रचित बताया जाता है। इस प्रकार की घटना भी भोज प्रबन्ध के साथ हुई है। उदाहरणार्थ, भोजप्रबन्ध का श्लोक 112, जिसका

1. वही, श्लोक 304-306
2. स्टर्न. लुडविग: इण्डियन रिडल्स : ए फॉरगॉटन चैप्टर, पृ॰ 79; 97.5.

पूर्वार्द्ध कालिदास एवं उत्तरार्द्ध भोजराज द्वारा रचित दिखाया गया है; अन्यत्र राजशेखर के श्लोक के रूप में उल्लिखित हैं। अथवा, भोजप्रबन्ध का 161वां पद्य, जो कि भोजप्रबन्ध में, भोज, बाण, महेश्वर एवं कालिदास द्वारा रचित बताया गया है, अन्यत्र अज्ञात कवि से सम्बद्ध बताया गया है। यही दशा भोजप्रबन्ध के श्लोक 86, 265 और 302 की है।

भोज-प्रबन्ध में प्रकृति-चित्रण

भारतीय चिन्तन में मानव, प्रकृति-जगत् में जन्म लेता है, उसका जीवन प्रकृति-जीवन का ही अंग है। उसकी सौन्दर्य परिकल्पना प्रकृति से उद्भूत है। दोनों का परिचालन एक ही प्रकार के नियमों से होता है। और इसीलिए मानवीय कल्पना के विकास में प्रकृति का सहयोग रहा है।

कला और काव्य का आधार कल्पना है, इस कारण प्रकृति से इनका सहज सम्बन्ध सम्भव है। प्रकृति के व्यापक विस्तार से जो सौन्दर्य, मानव अपनी कल्पना में ग्रहण करता है, वह उसके काव्य में अपनी अभिव्यक्ति ढूंढ़ता है। इसी कारण, भारतीय कवि मानव और प्रकृति के इस आन्तरिक एवं घनिष्ठ सम्बन्ध को कभी विस्मृत नहीं करता। वह अपने बिम्ब-विधान में इस आन्तरिकता को, मानव और प्रकृति दोनों के वर्णनों में सुरक्षित रखता है। कवि मानवीय अंग-प्रत्यंग, परिस्थितियों एवं भावों के सौन्दर्य-विधान के लिए, प्रकृति के उपकरणों से बिम्ब-योजना करता है। इसी प्रकार, प्रकृति में जीवन की व्यंजना के लिए मानवीय प्रतीकों तथा उपमानों की योजना की गई है। कवि की दृष्टि में, मानवीय तथा प्राकृतिक संसारों में समान जीवनी-शक्ति प्रवाहित हो रही है। इसीलिए, कवि इस साहचर्य एवं तादात्म्य की भावना को पशु, पक्षी, लता-पादपों में भी परिव्याप्त पाता है।

उपर्युक्त आधार पर ही संस्कृत काव्यों में मानवीय भावना और प्रकृति के मध्य व्यापक साहचर्य की अनुभूति हमें प्राप्त होती है। भारतीय चिन्तन में यह भावना इतने सूक्ष्म स्तर पर व्याप्त है कि हमारे

लोक-गीतों में भी प्रकृति मानव-सहचरी के रूप में प्रस्तुत की गई है।[1]

संस्कृत काव्यों में प्रकृति साधारणतः दो प्रकार से चित्रित की जाती है--आलम्बन अथवा प्रधान रूप में तथा उद्दीपन अर्थात् गौण अथवा सहायिका के रूप में।

भोजप्रबन्ध में श्रीबल्लाल कवि ने संस्कृत काव्य-परम्परा को अक्षुण्ण रखते हुए, प्रकृति-चित्रण में पूर्ण सजगता का प्रदर्शन किया है। इसीलिए हम देखते हैं कि, एक कथा-संग्रह रूपी फैण्टेसी होने के बाद भी, भोजप्रबन्ध में प्रकृति को पूरा-पूरा आदर दिया गया है। यहाँ पर आलम्बन अथवा प्रधान रूप में प्रकृति का चित्रण विरलतया ही प्राप्त होता है, जो कि स्वाभाविक ही है, क्योंकि इस प्रकार के वर्णनों से कथा-प्रवाह में विघ्न पड़ता है। इसके बाद भी, श्रीबल्लाल ने प्रकृति के उद्दीपन अर्थात् गौण-वर्णन से इसकी क्षतिपूर्ति कर दी है। भोजप्रबन्ध में विद्यमान, प्रकृति-चित्रण सम्बन्धी लगभग 62 पद्य इस स्थापना के प्रबल प्रमाण है।

संस्कृत काव्य-परम्परा में, आदिकवि वाल्मीकि के काव्य में भी हमें प्रकृति-चित्रण के सजग प्रयोग मिलते हैं।[2] महाकवि कालिदास के समय तक ये और अधिक परिष्कृत हो गए।[3] और इनके बाद क्रमशः प्रकृति-चित्रण अधिकाधिक चमत्कारपूर्ण और क्लिष्ट होते चले गए। शनैः-शनैः, इनकी स्वाभाविक सहजता एवं नैसर्गिकता का लोप हो गया और यह प्रकृति दुरूह अलंकारों के बोझ तले दबा दी गई।

श्रीबल्लाल ने जो भी प्रकृति-सम्बन्धी चित्र प्रस्तुत किए हैं, वे अत्यन्त सहज हैं और उनके ग्रंथ के उद्देश्य के अनुगामी भी[4]। इनके द्वारा उत्कीर्ण प्रकृति-चित्रों की एक अन्य विशेषता है-- इनकी कल्पनाशीलता का वैविध्य एवं व्यापकता। जहाँ एक ओर इन्होंने परम्परागत प्रभात-वर्णन,

---

1. रघुवंश : प्रकृति और काव्य, पृ॰ 6, भूमिका।
2. पश्येममचलं भद्रे नानाद्विजगणायुतम्।
   शिखरैः खमिवोद्विद्धैर्धातुमद्भिर्विभूषितम्।। वा॰ रा॰, 2.94.4 और 2.50.17 इत्यादि।
3. रघुवंश; अभिज्ञान शाकुन्तलम् नाटक एवं मेघदूत विशेष द्रष्टव्य।
4. ग्रंथ-उद्देश्य के स्पष्टीकरण हेतु शिल्प-विवेचन सम्बंधी अध्याय द्रष्टव्य है।

संध्या-वर्णन, चन्द्र-वर्णन तथा ऋतुओं आदि का वर्णन किया है, वहीं दूसरी ओर अत्यन्त साधारण प्राकृतिक तत्त्वों यथा कलम, जम्बु-फल, पेय, तथा इक्षुदण्ड से भी युक्तिपूर्वक अपने वर्णनों को सज्जित किया है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि कवि श्रीबल्लाल की प्रकृति सीमित अथवा संकुचित नहीं है। उन्होंने प्रकृति के प्रायः हर पक्ष का उद्घाटन करने का प्रयास किया है। श्रीबल्लाल की प्रकृति की परिकल्पना को भली-भाँति समझने हेतु, संस्कृत-काव्य के प्रकृति-चित्रण में अन्तर्निहित भारतीय सौन्दर्य-बोध पर विचार करना भी अपेक्षित है। भारतीय दृष्टि में, सदा प्रकृति के यथार्थ का अनुकरण करने के स्थान पर, कलाकार और कवि ने अपने सर्जनात्मक योग से प्रकृति की रचना की है। और इसी प्रयत्न में उसने प्रकृति को अपने भाव से सम्पन्न कर, उसे जीवन के सत्य से पूर्ण प्लावित कर दिया है। साधारण दृष्टि से इस प्रकार के प्रकृत्यंकन भले ही, पर्यवेक्षण तथा विवरण के आधार पर अयथार्थ, अतिरंजित एवं मात्र काल्पनिक प्रतीत हों, पर इस भावात्मक उद्भावना ने प्रकृति को ऐसी जीवनी शक्ति से व्यंजित किया है, जो उसके सभी रूपों में अन्तर्व्याप्त हो जाती है और इसके साथ ही, प्रकृति के आकार-प्रकार तथा स्थिति-परिस्थितियों आदि का यथार्थ महत्त्वहीन हो जाता है।

भारतीय काव्य-परंपरा में, प्रकृति और मानव में प्रवाहित अन्तर्वर्ती जीवन का उल्लेख अवश्य किया गया है, परन्तु, कलात्मक भाव-भूमि पर कवि अपना सौन्दर्य-बोध सीधे प्रकृति या जीवन से ग्रहण नहीं करता। वह तो ध्यान और समाधि के माध्यम से अपने भावों और संवेगों से संवेदित और स्फुरित प्रकृति के अनुभव को अभिव्यक्ति देता है और यहीं से वह सौन्दर्य का अपना आदर्श भी ग्रहण करता है। इस आदर्श-भावना की अभिव्यक्ति के लिए उसे अपनी भाषा, अपना बिम्ब-विधान, अपनी अप्रस्तुत-योजना, अपने आकार-प्रकार एवं रंग-रूप क़ी सृष्टि करनी होती है। इस स्थिति में, कवि द्वारा प्रकृति की जो परिकल्पना की जाती है, वह मुख्यतः सौन्दर्य-सृष्टि के लिए होती है; देश-काल को प्रत्यक्ष करने के उद्देश्य से नहीं। एतदर्थ कवि के नियम

वस्तुपरक प्रकृति-जगत् से निरपेक्ष रहते हैं। कवि प्रकृति का अंकन उसकी आभ्यन्तर संरचना तथा महत्त्व के आधार पर करता है, उसके यथार्थ रूपाकार को प्रस्तुत करने के भाव से नहीं। इसीलिए संस्कृत काव्यों में विद्यमान प्रकृति-चित्र उदात्त कल्पनाओं तथा नानाविध विषयों के सजीव चित्रण के लिए विश्व-विख्यात हैं।

काव्यात्मक सहजता के पथ का अनुगामी होने पर भी, भोजप्रबन्ध में विद्यमान प्रकृति-चित्र सार्थक एवं सुन्दर हैं। उदाहरणार्थ-संध्या-वर्णनः-

'व्यसनिन इव विद्या क्षीयते पङ्कजश्री-
र्गुणिन इव विदेशे दैन्यमायान्ति भृङ्गाः।
कुनृपतिरिव लोकं पीडयत्यन्धकारो
धनमिव कृपणस्य व्यर्थतामेति चक्षुः॥'[1]

प्रस्तुत पद्य का चित्र कितना सार्थक है। श्रीबल्लाल द्वारा प्रस्तुत उपमानों से तत्कालीन सामाजिक स्थिति की झलक भी हमें मिल जाती है कि विषयी व्यक्ति की विद्या के सदृश ही कमलों की शोभा का ह्रास होने लगा। जिस प्रकार परदेश में पण्डित दीनता को प्राप्त करते हैं, वैसे ही भ्रमर-कुल दीन हो गया। अन्धेरा दुष्ट राजा के समान जगत् को त्रास देने लगा। और आँखें कृपण के धन के समान व्यर्थता को प्राप्त करने लगीं। कैसा सजीव चित्र है।

इसी प्रकार, कवि श्रीबल्लाल द्वारा महाकवि कालिदास के मुख से निःसृत चन्द्र-वर्णन का यह श्लोक भी लोकोत्तर चमत्कार से परिपूर्ण है-

'लक्ष्मीक्रीडातडागो रतिधवलगृहं दर्पणो दिग्वधूनां
पुष्पं श्यामालतायास्त्रिभुवनजयिनो मन्मथस्यातपत्रम्।
पिण्डीभूतं हरस्य स्मितममरधुनीपुण्डरीकं मृगाङ्को
ज्योत्स्नापीयूषवापी जयति सितवृषस्तारकागोकुलस्य॥'[2]

अर्थात् चन्द्रमा लक्ष्मी की क्रीड़ा का सरोवर है, रति का धवलगृह है, दिशारूपी वधुओं का दर्पण है, श्यामलता का पुष्प है, तीनों

1. भो॰ प्र॰ : श्लोक 77
2. भो॰ प्र॰ : श्लोक 259

भुवनों को जीतने वाले कामदेव का छत्र है, भगवान् शंकर का पिण्डीभूत हास्य है, स्वर्ग गंगा का कमल है, चंद्रिका के लिए अमृत की वापी है तथा तारका रूपी गो-कुल का श्वेत वृषभ है। इस वर्णन से शुभ्र एवं निष्कलंक निशानाथ का चित्र स्वयमेव नेत्रों के समक्ष आ जाता है।

ऐसा ही एक अन्य चित्र उत्कीर्ण किया गया है, प्रातःकाल का, जिसे पढ़कर ऐसी प्रतीति होती है, मानो सच ही सूर्य शनैः शनैः उदित हो रहा है और चन्द्रमण्डल अस्ताचल की ओर अग्रसर हो रहा है।[1]

कवि श्रीबल्लाल ने ऋतुओं का भी वर्णन किया है। ऋतुओं में शीतर्तु का भारतवर्ष में उपनिषद्-काल से ही विशेष स्थान माना गया है। जीवेम शरदः शतम् इत्यादि। और वस्तुतः निर्धन लोगों के लिए शीत अभिशाप होती है। शीत से सन्तप्त व्यक्ति के नेत्रों से निद्रा, त्यागी हुई स्त्री के समान दूरंगत हो जाती है[2]। ऐसे व्यक्ति रात्रि में घुटनों के मध्य सिर रखकर, दिन में सूर्य से तथा सन्ध्या को अग्नि से शीत के निराकरण की चेष्टा करते हैं[3]।

श्रीबल्लाल द्वारा युक्तिपूर्वक ग्रीष्म वर्णन का भी समावेश इस ग्रन्थ में किया गया है। ग्रीष्म में हवा चलने की बात से भी शून्य समय को, उत्तरोत्तर व्यतीत होते देख, विलासी पुरुषों ने शृंगार की अन्य चेष्टाओं से विमुख होकर, केवल कामिनियों के दर्शन मात्र से ही अपने को सन्तुष्ट किया।[4] ऐसे में, नागिन ने अपने भूखे शिशु को मुख के पवन से ही फूत्कारी दी।[5] इनका वर्षा-वर्णन भी द्रष्टव्य है जिसमें वर्षाकाल मेघ को महती महत्त्व दिया गया है। कवि श्रीबल्लाल ने मेघ को अपने अनेक वक्तव्यों का आधार बनाया है। उनके ग्रन्थ में छह-सात बार[6] मेघ के व्याज से स्तुति की गई है। इसी प्रकार, चन्द्रमा भी उनका प्रिय उपमान प्रतीत होता है क्योंकि समूचे भोजप्रबन्ध में प्रायः छह बार ही

---

1 वही, श्लोक 320
2. वही, श्लोक 232
3. वही, श्लोक 233
4. वही, श्लोक 294
5. वही, श्लोक 293
6. वही, श्लोक 197, 201, 204, 206, 207, 210, 214 तथा 280 इत्यादि।

चन्द्रमा का भी उल्लेख है।[1]

इनके अतिरिक्त, भोजप्रबन्ध में चन्दन-वृक्ष (श्लोक 220), वन (श्लोक 222), कामदेव (श्लोक 171), मृगया (श्लोक 217), सूर्य (श्लोक 169), कोकिल (श्लोक 286-7), काक (श्लोक 268-9), जल (श्लोक 228) आदि के भी सुन्दर एवं सार्थक चित्र उत्कीर्ण किए गए हैं।

साथ ही, भोजप्रबन्ध में प्रकृति के कुछ अद्भुत एवं अपारम्परिक अंकन भी प्राप्त होते हैं जो इसके अद्भुत एवं विस्मित कर देने वाले वातावरण के सर्वथा अनुकूल हैं। उदाहरणार्थ, यह चित्र जिसमें कि लुब्धकवधू राजा भोज को सम्बोधित करके कह रही है-

'गायन्ति त्वदरिप्रियाश्रुतटिनीतीरेषु सिद्धाङ्गनाः।
गीतान्धा न तृणं चरन्ति हरिणास्तेनामिषं दुर्बलम्॥[2]

अर्थात् हे नरेन्द्र, आपके विपक्षियों की स्त्रियों के अश्रुओं की नदी के तट पर सुरांगनाएं गीत गाती हैं, जिस गीत के श्रवण से मुग्ध होकर हिरण घास चरना भूल जाते हैं और इसी से यह माँस सूखा हुआ हो गया है। यह एक सर्वथा नूतन पक्ष है प्रकृति का।

इसी प्रकार का एक दृश्य है, श्लोक सं॰ 201 में जहाँ मेंढक मृतकों के समान कोटर में पड़े थे, कछुए गड्ढे में धंसे हुए थे, मछलियां कीचड़ में मूर्च्छितप्राय पड़ी थीं, उस सूखे स्थान पर आकर, अकाल में मेघ ने ऐसी वृष्टि की कि वहाँ पर वन के हाथी आकर डुबकियां लगाकर जल पीने लगे। वस्तुतः, अत्यन्त सजीव एवं अद्भुत वर्णन है।

श्रीबल्लाल ने जल का भी एक अत्यन्त सुन्दर चित्र प्रस्तुत किया है-

'स्वच्छं सज्जनचित्तवल्लघुतरं दीनार्तिवच्छीतलं
पुत्रालिङ्गनवत्तथैव मधुरं तद्बाल्य संजल्पवत्।

---

1. वही, श्लोक 138, 154, 236, 255, 258, 259 इत्यादि।
2. भो॰ प्र॰, श्लोक 182

एलोशीरलवङ्गचन्दनलसत्कर्पूरकस्तूरिका-
जातीपाटलिकेतकैः सुरभितं पानीयमानीयताम्।।[1]

अर्थात् साधुओं के अन्तःकरण के सदृश स्वच्छ, दीनों की व्यथा के सदृश लघु, पुत्रालिंगनवत् शीतल, बालकों की तोतली बोली के समान मधुर, इलायची, लौंग, चन्दर, कपूर एवं कस्तूरी तथा मालती, पाटल एवं केतकी की सुरभि से सुगंधित सुशोभित जल लाइये।

इन सब प्रकृति-चित्रणों को श्रीबल्लाल कवि की वर्णन-क्षमता के साथ-साथ, उनकी विविध विषयों को चुनने की सामर्थ्य का ज्ञान भी सद्यः ही हो जाता है।

भोज-प्रबन्ध में स्तुति-सम्बन्धी पद्य

जैसा कि इंगित किया जा चुका है कि भोज-प्रबन्ध एक कथासंग्रहात्मक फैण्टेसी है और यहाँ वर्णित पात्र किसी न किसी वस्तु के प्रतीक हैं। इनमें से प्रमुख हैं कालिदास एवं महाराज भोज। जहाँ एक ओर महाकवि कालिदास संस्कृत साहित्य के उत्कर्ष काल के आदर्श मूल्यों के प्रतीक हैं, वहीं दूसरी ओर महाराज भोज उस नृपवर्ग को प्रतिनिधित्व करते हैं, जिसने सदा कवियों को आश्रय प्रदान कर संस्कृत वाङ्मय की महती सेवा की।[2]

तो भोजराज को एक सुयोग्य आश्रयदाता के रूप में दर्शाने के लिए, जिस पृष्ठभूमि की आवश्यकता थी, वह श्रीबल्लाल ने कथामुख में तैयार की। बचपन से ही भोज को प्रतापी एवं लोकप्रिय दिखलाया गया है। साथ ही, श्रीबल्लाल ने अत्यन्त पाटव से, यत्र-तत्र भोजराज के विभिन्न गुणों पर प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से प्रकाश डाला है। इसके लिए, उन्होंने स्थान-स्थान पर स्तुतिपरक पद्यों का निबन्धन भोजप्रबन्ध में किया है। सम्पूर्ण भोजप्रबन्ध में, प्रायः 84[3] स्तुतिपरक पद्य हमें प्राप्त होते

---

1. वही, श्लोक 229
2. विस्तार हेतु अध्याय 3 अवलोकनीय है।
3. प्रत्यक्ष-स्तुति-द्रष्टव्य श्लोक 6, 66, 76, 8, 83, 84, 85, 92, 123, 127, 141, 162, 172, 173, 181, 190, 194, 195, 196, 202, 205, 209, 211, 212, 213,
क्रमशः

हैं जिनमें से 42 में भोजराज की, नामोल्लेख सहित (प्रत्यक्ष) तथा 42 ही में व्याज से (अप्रत्यक्ष) स्तुति की गई है, जिससे उनके दाक्षिण्य, वीरता, महानता, विद्वत्प्रियता आदि सद्गुण उद्घाटित होते हैं। कपितय विशिष्ट उदाहरण द्रष्टव्य हैं–

दानशीलता– **देव त्वद्दानपाथोधौ दारिद्र्यस्य निमज्जतः।**
न कोऽपि हि करालम्बं दत्ते मत्तेभदायकः॥
(श्लोक 166)

अर्थात्, हे देव (भोजराज), हे मत्त हाथियों के दाता! आपके दानरूपी सागर में डूबते हुए दारिद्र्य की कोई भी सहायता नहीं कर रहा है। अर्थात् भोज के द्वारा दिए गए दान रूपी सागर में दरिद्रता डूब चुकी है और उसे बचाने वाला भी कोई नहीं।

वीरता– **कङ्कणं नयनद्वन्द्वे तिलकं करपल्लवे।**
अहो भूषणवैचित्र्यं भोजप्रत्यर्थियोषिताम्॥
(श्लोक 123)

अर्थात् ओह! भोज के शत्रुओं की स्त्रियों के प्रसाधन की कैसी विचित्रता है। दोनों आँखों में कंङ्कण हैं और नूतन पल्लव के समान कर में तिलक (माथे की बिन्दी) है। शोक में माथा पीटते हुए कङ्कण नेत्रों के सामने है और बिन्दी हाथ से पुँछ गई है।

विद्वत्प्रियता– **भोजः कलाविद्रुदो वा कालिदासस्य माननात्।**
विबुधेषु कृतो राजा येन दोषाकरोऽप्यसौ॥
(श्लोक 141)

अर्थात् राजा भोज को कलाविद् कहें अथवा शिव, क्योंकि

216, 217, 218, 219, 225, 227, 228, 237, 256, 266, 267, 272, 275, 289, 324, 325, 326, 327

अप्रत्यक्ष-स्तुति-द्रष्टव्य श्लोक–67, 69, 72, 73, 113, 134, 165, 166, 176, 182, 183, 185, 186, 187, 197, 206, 208, 210, 241, 220, 221, 222, 226, 234, 235, 236, 238, 239, 241, 242, 250, 264, 288, 300, 308, 310, 311, 312, 313, 314, 316

इन्होंने, दोष के आलय रूपी कालिदास को चन्द्रमा के समान विद्वानों (देवों) का राजा बना दिया है। इस श्लोक से राजा भोज की विद्वानों के प्रति अतिशय प्रीति प्रकट होती है।

कीर्ति-

महाराज श्रीमज्जगति यशसा ते धवलिते
पयः पारावारं परमपुरुषोऽयं मृगयते।
कपर्दी कैलासं करिवरमभौमं कुलिश-
भृत्कलानाथं राहुः कमलभवनो हंसमधुना।।

नीरक्षीरे गृहीत्वा निखिलखगपतिर्याति नालीकजन्मा।
चक्रं धृत्वा तु सर्वानटति जलनिधींश्चक्रपाणिर्मुकुन्दः।
सर्वानुत्तुङ्गशैलान् दहति पशुपतिर्भालनेत्रेण पश्यन्।
व्याप्ता त्वत्कीर्तिकान्ता त्रिजगति नृपते भोजराज क्षितीन्द्र।।
(श्लोक 82,83)

अर्थात् हे महाराज! आपकी कीर्ति से जंगल धवलित हो गया है, अतः परमपुरुष विष्णु क्षीरसमुद्र को, शिव कैलाश को, इन्द्र ऐरावत को, राहु चन्द्र को तथा ब्रह्मा हंस को खोज रहे हैं। अपि च, हे पृथ्वीपति भोज! आपकी कीर्तिरूपी कान्ता तीनों लोकों में ऐसी परिव्याप्त हो गई है कि ब्रह्मा जलमिश्रित दुग्ध लेकर निखिल पक्षिपंक्ति के पास जा रहे हैं, चक्रपाणि मुकुन्द चक्र धारण करके समुद्र को खोज रहे हैं और भगवान् रुद्र अपने कैलाश को खोजने के लिए सम्पूर्ण ऊंचे-ऊंचे पर्वतों को अपने भाल स्थित तृतीय नेत्र से जला रहे हैं।

यह वर्णन किंचित् अत्युक्तिपूर्ण अवश्य है, पर काव्य तो कल्पना-प्राचुर्य से ही समृद्धि प्राप्त करता है।

महिमा-

नो चिन्तामणिभिर्न कल्पतरुभिर्नो कामधेन्वादिभि-
र्नो देवैश्च परोपकारनिरतैः स्थूलैर्न सूक्ष्मैरपि।
अम्भोदेह निरन्तरं जलभरैस्तामुर्वरां सिञ्चता
धौरेयेण धुरं त्वयाद्य वहता मन्ये जगज्जीवति।।
(श्लोक 197)

अर्थात् हे मेघ! आपके द्वारा सींची जाने वाली पृथिवी से ही संसार के जीवों को जीवन मिलता है, अतः चिन्तामणि, कल्पवृक्ष, कामधेनु तथा देवगण इत्यादि, परोपकारी स्थूल एवं सूक्ष्म वस्तुएं आपके आगे कुछ भी नहीं। यहाँ मेघ के व्याज से भोजराज की महिमा का वर्णन किया गया है।

इस प्रकार, महाराज भोज के अनेकानेक राजोचित गुणों का जगह-जगह प्रकाशन किया गया है। यदि सार-संक्षेप में कहें तो महाराज भोज के प्रायः सभी गुणों का वर्णन श्रीबल्लाल ने बड़ी कुशलता से इस एक ही श्लोक में निबद्ध किया है-

कविषु वादिषु भोगिषु देहिषु द्रविणवत्सु सतामुपकारिषु।
धनिषु धन्विषु धर्मधनेष्वपि क्षितितले नहि भोजसमो नृपः॥
(श्लोक 181)

अर्थात् कवियों में, वक्ताओं में, भोक्ताओं में, देहधारियों में, साधुओं का उपकार करने वालों में, धनिकों में, धनुर्धारियों में, धार्मिकों में तथा इस समस्त भूतल में, महाराज भोज के सदृश दूसरा कोई नहीं है अर्थात् उक्त गुणों में महाराज भोज अद्वितीय हैं।

साथ ही, श्रीबल्लाल ने, ऐसे योग्य आश्रय के अभाव का एक चित्र भी प्रस्तुत किया है। इस श्लोक में उन्होंने यह बताया है कि भोजराज जैसे आदर्श आश्रय-स्थल के अभाव में कवियों की क्या स्थिति होगी?

अद्य धारा निराधारा निरालम्बा सरस्वती।
पण्डिताः खण्डिताः सर्वे भोजराजे दिवं गते॥
(श्लोक 326)

अब (आज) महाराज भोज के दिवंगत होने पर, धारा नगरी (जो विद्वानों की समस्त विद्वता की गतिविधियों से ओत-प्रोत थी) तथा सरस्वती आधार रहित हो गई तथा समस्त पण्डित-मण्डल खण्डित हो गया।

अतः, वास्तव में, भोज एक आदर्श नृपवर्ग के प्रतीक रूप में यहाँ प्रस्तुत किए गए हैं जिनके होने से धारा नगरी और सरस्वती

आधारमयी और पंडितवर्ग सम्मान को प्राप्त करते हैं। (श्लोक 327)

भोजप्रबन्ध : गद्य

संस्कृत वाङ्मय में गद्य की प्राचीनता वेदों तक पहुँच जाती है। हमारे साहित्य में पद्य की अपेक्षा गद्य को अधिक सम्मान दिया गया है–'गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति।' यह उद्घोषणा सम्भवतः इसलिए की गई कि लेखन–सामग्री के अभाव में, हमारा प्रायः समस्त साहित्य पद्यबद्ध था क्योंकि यह तो सर्वविदित तथ्य है कि पद्य का स्मरण अपेक्षाकृत सरलता से हो जाता है। वस्तुतः, पद्यबन्ध नाना प्रकार के नियन्त्रणों से जकड़ा हुआ रहता है। कहीं छन्द, कहीं मात्रा, कहीं यति आदि मिलकर गति को अवरुद्ध कर देते हैं। इसके विपरीत, गद्य में, कवि को अपनी अभिव्यक्ति के लिए पूरा अवसर मिलता है। पर, साथ ही, किसी नियन्त्रण के अभाव में यदि गद्य कवि की रचना में कोई साहित्यिक त्रुटि परिलक्षित होती है, तो उसका उत्तरदायी वह स्वयं होता है, उसके द्वारा चयन किया गया माध्यम नहीं। इसीलिए आलोचकों ने गद्य को कवि–प्रतिभा का निकष कहा है।[1]

गद्य का विकास

सर्वप्रथम, गद्य–दर्शन हमें कृष्ण–यजुर्वेद में होता है। तत्पश्चात्, ब्राह्मणग्रन्थों, उपनिषदों, निरुक्त, महाभारत एवं महाभाष्य–प्रभृति ग्रन्थों से संस्कृत भाषा के गद्य की परम्परा की समृद्धि हुई।[2] आगे चलकर, टीकाओं, व्याख्याओं, कथा–काव्यों, आख्यायिका ग्रन्थों और चम्पू–नाटक आदि में गद्य भाषा का प्रौढ़ रूप हमारे समक्ष आता है।

ऐतिहासिक गवेषणाओं से हमें प्रतीत होता है कि भारतीय साहित्य के प्राचीनतम खण्ड वैदिक साहित्य में, गाथाओं का अस्तित्व बड़ी प्रभावोत्पादक रीति से स्वीकार किया गया है।[3] ऋग्वेद में 'नाराशंसी'

---

1. उपा॰ बल॰–सं॰ सा॰ का इति॰, अष्टम परि. पृ॰ 377
2. गैरोला, वा॰–सं॰ सा॰ का सां॰ इति॰, पृ॰ 807
3. ब्राह्मण–ग्रन्थों के अर्थवाद के एक आवश्यक अंग के रूप में, वैदिक वाङ्मय के क्षेत्र में आख्यान, इतिहास एवं पुराणों का स्पष्टोल्लेख है, जो धार्मिक संस्कारों या यज्ञादिक के अवसरों पर सुनाए जाते थे।

गाथाओं का उल्लेख दान-स्तुति के रूप में हुआ। इनके रचयिता, वक्ता एवं प्रवक्ता तत्कालीन संत (कुशीलव) थे। यद्यपि ये आज हमें समुपलब्ध नहीं, पर पुराने उपलब्ध ग्रंथ इस संबंध में पर्याप्त विवरण प्रदान करते हैं।[1]

लौकिक संस्कृत वाङ्मय में, गद्यात्मक कथाओं का अभ्युदय विक्रम से लगभग चार सौ वर्ष पूर्व हुआ था। कात्यायन ने 4.2.60 सूत्र के अपने वार्तिक में, आख्यान एवं आख्यायिका का उल्लेख अलग-अलग किया है। महामुनि पतंजलि ने भी आख्यान के उदाहरण में (यवक्रीत, प्रियंगु तथा ययाति का) तथा आख्यायिका के उदाहरण में (वासवदत्ता, भैमरथी तथा सुमनोत्तरा का) उल्लेख किया है। ये सम्प्रति अनुपलब्ध हैं।[2]

गद्य-काव्य के साहित्यिक दृष्टि से दो भेद होते हैं-कथा और आख्यायिका। इनमें से कथा सरस वस्तु (इतिवृत्त) हुआ करती है, उसमें कहीं-कहीं आर्या, और कहीं-कहीं वक्त्र तथा अपवक्त्र छन्दों का भी प्रयोग होता है। उसका प्रारम्भ किसी मंगलवाची श्लोक से किया गया है। उसमें खल-निन्दा एवं सज्जनों का यशोगान होता है।[4] आख्यायिका भी कथा की ही भाँति गद्य काव्य का रूप है, जिसमें प्रायः कथा की ही उक्त विशेषताएँ हुआ करती हैं। इसमें भिन्नता इस बात में होती है कि कवि अपने वंश के अनुकीर्तन के साथ-साथ इसकी कृतियों की भी चर्चा करता है। इसमें स्थान-स्थान पर, पद्यबद्ध सूक्तियां भी हुआ करती हैं। यह आश्वासों में नियमित होती है और इसमें आरंभ में आर्या या वक्त्रापवक्त्र छन्दों में किसी अवान्तर विषय को लेकर, वर्ण्य-विषय की सूचना दी जाती है।[5]

---

1. सुप्रसिद्ध वैयाकरण कात्यायन (400 ई॰ पू॰) आख्यायिका से भलीभाँति परिचित थे। महाभाष्यकार पतंजलि (200 ई॰ पू॰) का महाभाष्य भी गद्य की समृद्धि का परिचायक है।
   गैरोला वा॰-सं॰ सा॰ का सां॰ इति॰, पृ॰ 806
2. उपा॰ बल॰-स॰ सा॰ का इति॰, अष्टम परि॰, पृ॰ 383
3. सा॰ दर्पण, षष्ठ परि॰, पृ॰ 226-27
4. वही, पृ॰ 226
5. वही, पृ॰ 226-27

भोजप्रबन्ध एक कथा-संग्रहात्मक चम्पू ग्रंथ है, जिसमें श्री-बल्लाल कवि ने महाराज भोज से सम्बद्ध अनेकानेक कथाओं को एक सूत्र में पिरोया है। सारी कथाएं, परस्पर भिन्न होते हुए भी, कवि-कौशल द्वारा एक बृहत्कथा के रूप में निबद्ध प्रतीत होती हैं। ये सब कथाएं एक-दूसरे को समझने में सहायक हैं अर्थात् उत्तरवर्ती कथा को सही-सही समझने हेतु, पूर्ववर्ती कथा एवं कथामुख को जानना आवश्यक है। अत एव यह कोई साधारण कथा-संग्रह नहीं है। वस्तुतः यह एक ऐसा कथा संग्रह है जिसकी परस्पर संबद्ध कथाएं, हमें कुछ संदेश देना चाहती हैं।[1]

बन्ध के आधार पर गद्य के निम्न भेद, काव्याचार्यों द्वारा किए गए हैं-

वृत्तगन्धोज्झितं गद्यं मुक्तकं वृत्तगन्धिं च।
भवेदुत्कलिकाप्रायं चूर्णकं च चतुर्विधम्।।[2]

अर्थात् 'गद्य' वह शब्दार्थ-योजना है जो छन्दोबद्ध नहीं होती। गद्य के चार प्रकार हैं- मुक्तक, वृत्तगन्धि, उत्कलिकाप्राय और चूर्णक। इनमें से 'मुक्तक' वह गद्यबन्ध है जो असमस्त पदों में रचा जाए, वृतगन्धि में वृत्तों के अंश यत्र-तत्र प्रतीत हुआ करते हैं, उत्कलिकाप्राय में लम्बे-लम्बे समास पद होते हैं तथा चूर्णक में छोटे-छोटे समस्त पदों का उपनिबन्धन होता है।[3]

भोजप्रबन्ध के सरल एवं प्रवाहमय गद्य में हमें इन चारों ही गद्यबन्धों के दर्शनं होते है। यथा-

मुक्तक-**'राजा तान्प्राह-एतत्स्वरूपं ज्ञातमेव। भवद्भिर्यथार्थतया वाच्यम्।' ततस्तैः सर्वमेव निवेदितम्। ततो राजा विचारितवान्-'सर्वथा कालिदासश्चारणवेषेण मद्भयान्मदीयनगरमध्यास्ते।' इत्यादि।**[4]

---

1. विस्तार हेतु-शिल्प विवेचन (तृतीय अध्याय) द्रष्टव्य
2. सा॰ दर्पण, षष्ठ परि॰, पृ॰ 226, श्लोक 33
3. वही-षष्ठ परि॰, पृ॰ 327, श्लोक 33
4. भो॰ प्रं॰ : पृ. 140, 141 (अग्रे द्रष्टव्य)

यहां प्रत्येक पद मुक्त अथवा अन्य पद-निरपेक्ष रहने के कारण सुन्दर लग रहा है।

वृत्तगन्धि- **वृत्तभागयुतं परम्।**[1]

अर्थात् वृत्त या छन्द से युक्त जो गद्य भेद होता है, वह वृत्तगन्धि कहलाता है। इसके भी कतिपय उदाहरण भोजप्रबन्ध के अवलोकन से दृग्गोचर होते हैं।

उत्कलिकाप्राय-**ततः प्रतोलीषु राजभवनप्राकारवेदिकासु बहिर्द्वारविटङ्केषु पुरसमीपेषुभेरीपटहमुरजमड्डकडिण्डिमनिनादाडम्बरेणाम्बरं विडम्बितमभूत्। इत्यादि।**[2]

यहाँ लम्बे-लम्बे समस्त पद स्पष्ट दिखाई दे रहे हैं।

चूर्णक-**'ततो निशानाथहीनेव निशा, दिनकरहीनेव दिनश्रीः, वियोगिनीव योषित्, शक्ररहितेव सुधर्मा, न भाति भोजभूपाल सभा रहिता कालिदासेन।' इत्यादि।**[3]

यहाँ स्वल्प समास वाले पदों की योजना का सौन्दर्य स्पष्ट झलक रहा है।

यदि संस्कृत-साहित्य की गद्य-शैली का अवलोकन किया जाए, तो साहित्यिक काव्यों में स्पष्टरूपेण दो शैलियाँ प्राप्त होती हैं-एक अलंकृत शैली तथा दूसरी नैसर्गिक शैली।[4]

अलंकृत गद्य शैली का उदय यद्यपि सुबन्धु[5] (षष्ठ शती का अन्त) से भी प्राचीन जान पड़ता है, पर उसका स्पष्ट रूप हमें सर्वप्रथम उनकी 'वासवदत्ता' में ही प्राप्त होता है। इसी अलंकृत गद्य-शैली के मार्ग पर बाणभट्ट, तथा अन्य गद्य एवं चम्पू कवि चलते रहे हैं। यहाँ तक कि आचार्य दण्डी भी जिनका झुकाव नैसर्गिक गद्य शैली की ओर है, इस अलंकृत गद्य शैली को सर्वथा न त्यागते हुए, उपर्युक्त दोनों

1. साहित्य दर्पण, षष्ठ परि॰, पृ॰ 226
2. भो॰ प्र॰, कथामुख, पृ॰ 110 (अग्रे द्रष्टव्य)
3. वही, पृ॰ 137
4. व्यास, भोलाशंकर : भो॰ प्र॰, भूमिका, पृ॰ 5
5. उपा॰ बल॰-सं॰ सा॰ का इतिहास, पृ॰ 384

शैलियों के मध्यम मार्ग का आश्रय लेते हैं।

नैसर्गिक संस्कृत गद्य शैली, सहज एवं सरल गद्य रचनाओं में प्राप्त होती है। इनमें से कुछ प्रमुख रचनाएं हैं-पंचतन्त्र, हितोपदेश, सिंहासन-द्वात्रिंशत्पुत्तलिका इत्यादि। कहना न होगा कि, भोजप्रबन्ध का गद्य भी इसी सरल नैसर्गिक मार्ग का पथिक है।

वस्तुतः श्रीबल्लाल तथा अन्य कथाकारों ने भी गद्य की सहज एवं नैसर्गिक शैली का अवलम्बन संभवतः इसलिए लिया, क्योंकि वे अपने ग्रन्थों को सरल, सहज एवं बोधगम्य बनाना चाहते थे। इस सरल-गद्य के कारण ही इसकी कथा की प्रवाहमयता बनी रहती है। अलंकृत-शैली के गद्य में मस्तिष्क का व्यायाम भी अधिक होता है और कथा का प्रवाह भी बाधित होता है। और वैसे भी श्रीबल्लाल तो काव्य में सहजता एवं नैसर्गिक सौन्दर्य के ही उपासक हैं। इसका प्रमाण हैं-

यत्सारस्वतवैभवं गुरुकृपापीयूषपाकोद्भवं
तल्लभ्यं कविनैव नैव हठतः पाठप्रतिष्ठाजुषाम्।
कासारे दिवसं वसन्नपि पयः पूरं परं पङ्किलं
कुर्वाणः कमलाकरस्य लभते किं सौरभं सैरिभः॥[1]

अर्थात् जिस कवि को गुरु की दया रूपी सुधा के पाक से जो सरस्वती का वैभव मिलता है (वही कवि है), दुराग्रह से पाठ के प्रतिष्ठास्पदों को वह वैभव नहीं मिलता (अर्थात् दुराग्रह से कोई उत्तम कवि नहीं हो सकता)। तालाब में दिन भर रहते हुए भी जलराशि को अत्यधिक गंदा करने वाला भैंसा क्या कमलों वाले तालाब की सुगन्ध को पा सकता है। इस उपर्युक्त प्रमाण के प्रकाश में श्रीबल्लाल कवि की नैसर्गिक-काव्य में रुचि स्वयमेव उद्घाटित हो जाती है। तब ऐसे में, वे स्वयं भला अलंकृत शैली का आश्रय कैसे ले सकते थे?

इनकी सहज एवं प्रवाहमयी गद्य-भाषा के कतिपय उदाहरण यहाँ उद्धृत करना अप्रासंगिक न होगा।

1. भो॰ प्र॰, श्लोक 95

'आदौ धाराराज्ये सिन्धुलसंज्ञो राजा चिरं प्रजाः पर्यपालयत्। तस्य वृद्धत्वे भोज इति पुत्रः समजनि। स यदा पञ्चवार्षिकस्तदा पिता ह्यात्मनो जरां ज्ञात्वा मुख्यामात्यानाहूयानुजं मुञ्जं महाबलमालोक्य पुत्रं च बालं वीक्ष्य विचारयामास-'यद्यहं राज्यलक्ष्मीभारधारणसमर्थं सोदरमपहाय राज्यं पुत्राय प्रयच्छामि, तदा लोकापवादः। अथवा बालं मे पुत्रं मुञ्जो राज्यलोभाद्विषादिना मारयिष्यति, तदा दत्तमपि राज्यं वृथा। पुत्रहानिर्वंशोच्छेदश्च।[1] इत्यादि।

उपर्युक्त उदाहरण में, कथा की पृष्ठभूमि का निर्माण तथा राजा सिन्धुल की विचार प्रक्रिया का निबन्धन बड़ा ही सप्रवाह, सहज एवं सरल है।

अपि च, **'एवं कोलाहलरवे जाते कश्चिदभ्यगात् कनकमणिकुण्डलशाली दिव्यांशुकप्रावरणो नृपकुमार इव मृगमद-पङ्कजकलङ्कितगात्रो नवकुसुमसमभ्यर्चितशिराश्चन्दनाङ्गरागेण विलोभयन्विलास इव मूर्तिमान् कवितेव तनुमाश्रितः शृंगाररसस्य स्यन्द इव सस्यन्दो महेन्द्र इव महीवलयं प्राप्तो विद्वान्।'**[2]

इस गद्यांश में श्रीबल्लाल ने महाकवि कालिदास का भोज सभा में प्रथम आगमन का वर्णन किया है। यह वर्णन आलंकारिक अवश्य है, परन्तु कहीं भी बोधगम्यता का अभाव इसमें दृक्गोचर नहीं होता।

अन्य भी, **राजा प्राह कुतूहलात्-विद्वन्, याचस्व कोशाधिकारिणाम्। लक्षं दास्यति मद्वचसा। ततो विद्वान्काष्ठं भूमौ निक्षिप्य कोशाधिकारिणं गत्वा प्राह-'महाराजेन प्रेषितोऽहम्। लक्षं मे दीयताम्। 'ततः स हसन्नाह-'विप्र, भवन्मूर्तिः लक्षं नार्हति।' ततो विषादी स राजानमेत्याह-'स पुनर्हसति देव, नार्पयति।' राजा कुतूहलादाह-'लक्षद्वयं प्रार्थय। दास्यति।' पुनरागत्य विप्रः 'लक्षद्वयं देयमिति राज्ञोक्तम्' इत्याह। स पुनर्हसति। विप्रः पुनरपिभोजं प्राप्याह-'स पापिष्ठो मां हसति, नार्पयति।' ततः कौतूहली लीलानिधिर्महीं**

1. भो॰ प्र॰ : पृ. 105 (अग्रे द्रष्टव्य)
2. वही : पृ. 120

शासञ्श्रीभोजराजः प्राह विप्र, लक्षत्रयं याचस्व। अवश्यं स दास्यति।' इत्यादि।[1]

इस उपर्युक्त गद्यांश में, छोटे-छोटे वाक्यों तथा कथोपकथनों द्वारा, विप्र का अधिकारी के पास बार-बार आवागमन और भोज की कौतुकप्रियता की सुन्दर अभिव्यंजना हो रही है।

'ततो राजा माघं विपन्नं नर्मदातीरं नीत्वा यथोक्तेन विधिना संस्कारमकरोत्। तत्र च माघपत्नी वह्नौ प्रविष्टा। तयोश्च पुत्रवत्सर्वं चक्रे भोजः। ततो माघे दिवं गते राजा शोकाकुलो विशेषेण कालिदासवियोगेन च पण्डितानां प्रवासेन कृशोऽभूद्दिने दिने बहुलपक्षशशीव।[2]

इस गद्यांश में, माद्य पण्डित की मृत्यु, उनकी पत्नी के अग्नि-प्रवेश तथा भोजराज द्वारा किए गए उनके संस्कार का अत्यंत मार्मिक चित्रण उपस्थित किया गया है। भोजप्रबन्ध के गद्य में, कहीं-कहीं पर, श्रीबल्लाल ने प्रकृति के चित्र देने के प्रयास भी किए हैं। यथा-

'कदाचिद्भोजो मृगयापर्याकुलो वने विचरन्विश्रमाविष्टहृदयः कंचित्तटाकमासाद्य स्थितवान्श्रमात्प्रसुप्तः। ततः प्रत्यूषसमये नगरीं प्रति प्रस्थितो राजा चरमगिरिनितम्बलम्बमानशशाङ्कबिम्बमवलोक्य सकुतूहलः सभामागत्य तदा समीपस्थान्कवीन्द्रान्निरीक्ष्य समस्यामेकामवदत् 'चरमगिरिनितम्बे चन्द्रबिम्बं ललम्बे।'[3]

साथ ही, एक स्थान पर श्रीबल्लाल ने अपने चिकित्साशास्त्रविषयक ज्ञान का भी उल्लेख किया है-

'ततस्तावूचतुः-'राजन्, न भेतव्यम्। रोगो निर्गतः। किंतु कुत्रचिदेकान्ते त्वया भवितव्यम्' इति। ततो राज्ञापि तथा कृतम्। ततस्तावपि राजानं मोहचूर्णेन मोहयित्वा शिरःकपालमादाय तत्करोटिका पुटे स्थितं शफरकुलं गृहीत्वा कस्मिंश्चिद्भाजने निक्षिप्य संधानकरण्या

1. भो॰ प्र॰ : पृ. 150 अग्रे द्रष्टव्य
2. वही : पृ. 177
3. वही : पृ. 188, 189

कपालं यथावदारचय्य संजीविन्या च तं जीवयित्वा तस्मै तददर्शयताम्।"[1]

इसमें प्रयुक्त मोहचूर्ण (संभवतः क्लोरोफार्म) तथा संधान करणी आदि शब्द तथा यह समग्र विधि श्रीबल्लाल के शल्य-चिकित्साविषयक ज्ञान का प्रमाण है।

इस प्रकार, इन उदाहरणों के अवलोकन से यह स्पष्ट हो जाता है कि इन सभी में वर्णन-वैविध्य होने पर भी श्रीबल्लाल का गद्य अपनी नैसर्गिक सहजता का परित्याग कहीं भी नहीं करता। यह सरल एवं प्रवाहमय गद्य कथा के विकास की गति को तो बढ़ाता ही है, साथ ही यह उन छात्रों के लिए भी अत्युपयोगी सिद्ध हो सकता है, जो कि संस्कृत गद्य लेखन के व्युत्पित्सु हैं।

निष्कर्ष

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि भारतवर्ष में, चम्पू-काव्य किस प्रकार, विभिन्न काल-क्रमों में, विकसित एवं परिवर्धित हुआ तथा कैसे ह्रास को भी प्राप्त हुआ। इससे भोज प्रबन्ध का चम्पू-काव्यत्व भी सिद्ध होता है। यह एक गद्यपद्यमयी प्रबन्धात्मक रचना है, जो कि स्वरूप में कथा-संग्रहात्मक तथा उद्देश्यात्मक भी है। साथ ही, इस अध्याय से, भोजप्रबन्ध के पद्यों में वर्णित विभिन्न तत्त्वों (यथा समस्या-पूर्ति, प्रकृति, तथा स्तुति इत्यादि) को भी समझने में सहायता मिलती है।

---

1. भो॰ प्र॰ : पृ. 190 (अग्रे द्रष्टव्य)

3

भोजप्रबन्ध : शिल्प-विवेचन

भोजप्रबन्ध : शिल्प-विवेचन (फैण्टेसी)

साहित्य और भाषा का परस्पर गहरा सम्बन्ध है। भाषा के बिना साहित्य-सृजन की कल्पना भी कर पाना नितान्त अवैज्ञानिक और अतार्किक होगा। और भाषा, जैसा कि सर्वविदित है, प्रत्येक मानव-समूह की अलग-अलग होती है। भाषा की इस विविधता का प्रमाण है आज के भाषा-वैज्ञानिकों द्वारा किया गया भाषा का पारिवारिक वर्गीकरण, जिसमें भाषा-विशेष के आधार पर मानव-समूहों का विभाजन किया गया है। अत:, संसार में देशों, उन देशों की भाषाओं और उन भाषाओं के साहित्यों में वैभिन्न्य, स्पष्टत: दृक्गोचर होता है।

परन्तु, इस सब वैभिन्न्य के बाद भी, इनमें समानता का मिलना आश्चर्यजनक प्रतीत होता है। यह समानता हमें कई रूपों में मिलती है, जिनमें से मुख्य है-साहित्य की विधाओं में। संस्कृत में नाटक तथा अंग्रेजी में 'प्ले' इत्यादि को उदाहरण स्वरूप समझा जा सकता है, जिन्हें आभ्यन्तर संरचनाओं के विषय में मत-वैभिन्न्य होने पर भी, मूलत: एक ही विधा माना जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि साहित्य की विधाओं के लिए देश, भाषा एवं काल आदि की सीमाओं का कोई विशेष अर्थ नहीं। ये विधाएं विज्ञान के नियमों की भाँति होती हैं। प्रसिद्ध वैज्ञानिक न्यूटन के सिर पर सेब गिरा और उस क्षण ही से पृथिवी का गुरुत्वाकर्षण प्रारम्भ हुआ, ऐसा कदापि नहीं। यह तो ऐसे हुआ कि न्यूटन, मानो समाधि की चरम अवस्था में थे, उनके सिर पर वह सेब

गिरा और उन्हें ज्ञान अथवा साक्षात्कार हो गया। उन्होंने गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त का प्रवर्तन नहीं किया, अपितु, उन्होंने उसे अन्वेषित कर, एक संज्ञाविशेष से अभिहित कर दिया। ठीक इसी प्रकार साहित्य में भी होता है। इसके भी सिद्धान्त एवं विधाएं तो सनातन होते हैं, आवश्यकता होती है, केवल योग्य अन्वेषकों की, जो कि उन्हें खोज कर, अभिहित कर, जन-समुदाय के समक्ष रख सकें, जिससे कि परिस्थितियों से प्रताड़ित मानव को स्व-मनोभावाभिव्यक्ति के नए-नए साधन प्राप्त हों।

कवि-गण इन्हीं अभिव्यक्ति के साधनों की मर्यादा में रहते हुए, निज युगीन सामाजिक, साहित्यिक एवं सांस्कृतिक परिवेशों तथा परिस्थितियों का उद्घाटन करते हैं और उनकी रचनाओं में सामाजिक, स्व-मनोभावाभिव्यक्ति पाकर, उनसे तादात्म्य स्थापित कर, रसास्वादन प्राप्त करते हैं और कवि प्रसिद्धि तथा आत्म-तोष। कवि को भारतीय तथा पाश्चात्य दोनों ही परंपराओं में प्रजापति अथवा स्रष्टा का आदर प्रदान किया गया है-

अपारे काव्यसंसारे कविरेको प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते।।[1]

तथा

To Build from the matter is sublimely great;
But only Gods and Poets can create:[2]

तो यह सिद्ध हुआ कि कवि सर्वतन्त्र स्वतन्त्र स्रष्टा होता है और श्रीबल्लाल भी एक विद्वान् कवि हैं, तो वे भी स्रष्टा सिद्ध हुए और चूंकि वे स्रष्टा हैं, अतः अपने भावों की अभिव्यक्ति हेतु, अपने नवीन कल्पना-लोक का निर्माण स्वेच्छा से करने में सर्वथा सक्षम हैं। उन्होंने अभिव्यक्ति की जिस विधा को अपनाया, आज मनोविज्ञान एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र उसे 'फैण्टेसी' नाम से अभिहित करता है। श्रीबल्लाल सुदूर अतीत में, भारतवर्ष में, इसी अभिव्यक्ति-विधा के पोषक तथा परिवर्धक प्रतीत होते हैं।

---

1. ध्वन्यालोक, आनंदवर्द्धन, तृतीय उद्योत, कारिका 43
2. कॉडवेल, क्रिस्टोफर, इल्यूशन्स एण्ड रिएलिटी, पृ. 57-58 (अ.)

फैण्टेसी शब्द, भारोपीय ग्रीक भाषा के शब्द फैण्टेसिया[1] से आया है, जिसका अर्थ होता है 'मानव की प्रवाह रूप में या आवश्यकता पड़ने पर, एक काल्पनिक जगत् का निर्माण करने की अद्‌भुत सामर्थ्य।'

प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक सिगमण्ड फ्रायड के अनुसार, अतृप्त इच्छाएं फैण्टेसी की प्रेरक-शक्तियां हैं तथा दिवास्वप्नों की ओर इंगित करते हुए वे कहते हैं कि ये दोनों ही (अर्थात् फैण्टेसी एवं दिवास्वप्न) इच्छापूर्ति प्रदान करते हैं।[2]

अन्य मनोवैज्ञानिकों ने भी, फैण्टेसी को काल्पनिक चिन्तन का ही एक रूप माना है, जो वस्तु-जगत् की परिस्थितियों की अपेक्षा, व्यक्ति की मूल इच्छाओं, मूल वृत्तियों और भावों से अधिक नियंत्रित होता है।[3]

फैण्टेसी का प्रादुर्भाव

मनोविश्लेषणशास्त्र के अध्ययन ने भी इस महत्त्वपूर्ण तथ्य को प्रस्तुत किया है कि कविता का जन्म, प्रकृति और मनुष्य की जीवनेच्छा के मध्य स्थित अन्तर्विरोध से होता है, या दूसरे शब्दों में, कविता, मनुष्य की मूल प्रवृत्तियों और अनुभवों के तनाव का परिणाम होती है।

यही तनाव, यही असन्तोष और इन्हीं संवेगों की तीव्रता, कवि को फैण्टेसी के एक काल्पनिक जगत् की सृष्टि करने के लिए विवश करते हैं, जो वस्तु-जगत् से एक निश्चित और सक्रिय सम्बन्ध रखता है। अर्थात् फैण्टेसी कल्पना मात्र नहीं, प्रत्युत उसका अपना एक निश्चित भौतिक आधार है और जहाँ से वह जन्म लेती है, उसी पर प्रभाव भी डालती है।[4]

---

1. इण्टरनेशनल एनसाइक्लोपीडिया आफ सोशल साइन्सेज़, भाग 5, पृ 327
2. काडवेल क्रि० : इल्यूशन्स एण्ड रिएलिटी, पृ० 181 (अ०)
3. द्रष्टव्य-(1) इनसाक्लोपीडिया अमेरिकाना, पृ० 176 (अ०)
   (2) इण्टर० एन० आफ सोशल साइ०, भाग 5, पृ० 327 (अ०)
   (3) द सोशल साइन्सेज़ इन०, पृ० 293-294 (अ०)
4. काडवेल क्रि० : इल्यू० एण्ड रिएलिटी, पृ० 199 (अ०)

प्रसिद्ध मार्क्सवादी विद्वान् जार्ज थामसन के अनुसार 'फैण्टेसी इच्छित यथार्थ की पूर्ति है, यह एक जादू है, एकं भ्रांति है, जो यथार्थ के ही ढंग की है, लेकिन यह भ्रांति भी बेकार नहीं है। यह यथार्थ के प्रति मनुष्य के दृष्टिकोण को बदलती है और इस प्रकार अप्रत्यक्ष रूप से यथार्थ को भी बदलती है।"[1]

वे सभी साहित्यकार, जो कि भोजप्रबन्ध को तथा श्रीबल्लाल कवि को, अब तक भांति-भांति के असज्जनोचित वक्तव्यों द्वारा 'उपकृत' करते आए हैं, यदि इस दृष्टि से भोजप्रबन्ध का पुनर्मूल्यांकन करें, तो कदाचित् इसमें उन्हें इतने दोष न दिखें। जब कोई कवि रचना करने को उद्यत होता है, तो उसके अन्तःकरण में यह भाव कदापि नहीं होता कि मैं ऐसी कपोल-कल्पना लिखने जा रहा हूँ, जिसका अनुशीलन कर, आगे आने वाली पीढ़ी दिग्भ्रमित हो जाए। पर, भोजप्रबन्ध में हम ऐसा ही देखते हैं। यहाँ जब हम सारे प्रसिद्धाप्रसिद्ध कवियों को एक ही साथ, एक ही स्थान पर पाते हैं, तो यह सोचने को विवश हो जाते हैं कि ये अवश्य ही कपोल-कल्पना है। अब तक के अधिकांश विद्वत्समुदाय ने ऐसा ही माना और सम्भवतः यही कारण है कि किसी और दृष्टिकोण से भोजप्रबन्ध के आकलन की आवश्यकता का अनुभव नहीं किया गया। इसी विद्वत्समुदाय की मान्यता के प्रमाणरूप में प्रसिद्ध भारतीविद्याविद् एम० विन्तर्नित्स का यह कथन उद्धृत किया जा सकता है-'इसमें (भोज प्रबन्ध में) सर्वत्र अनैतिहासिकता पराकाष्ठा पर पहुँच गई है तथा बहुत-से पूर्व समय के अनुसन्धायकगण इसके कारण धोखा खा चुके हैं।'[2]

परन्तु, ऐसा नहीं हैं। श्रीबल्लाल कवि ने इस उद्भावना को हास्य का पात्र बनने के लिए तो नहीं ही प्रणीत किया होगा। तब क्या कारण हो सकता है, उनकी इस अद्भुत कल्पना का? आइए, फैण्टेसी के परिप्रेक्ष्य में, इस कारण का अन्वेषण करें।

---

1. थामसन जार्ज : मार्क्सिज्म एण्ड पोएट्री
2. विन्तर्नित्स, एम० : भा० सा० का इतिहास, भाग 3, खण्ड 1, पृ० 447-48

भोजप्रबन्ध के विषय में दो प्रश्न, इसके अध्ययन के साथ ही, हमारे समक्ष आते हैं-

(1) काल-क्रम से भिन्न-भिन्न समय पर हुए सभी प्रसिद्ध-अप्रसिद्ध कवियों को धाराधीश भोज की सभा में क्यों दिखाया गया है?

(2) महाकवि कालिदास को उन सबमें सर्वश्रेष्ठ क्यों चित्रित किया गया है।

इन दो प्रश्नों के उत्तर ढूँढ़ने के साथ ही, कारणान्वेषण का कार्य भी सम्पन्न हो जाएगा।

जैसा कि अभी विवेचित किया गया है कि फैण्टेसी के मूल में तनाव (अथवा अन्तर्विरोध) होता है, जिसकी प्रतिक्रिया-स्वरूप उठने वाले तीव्र संवेग, कवि के मानस को, अपने इच्छित यथार्थ की पूर्ति हेतु, फैण्टेसी-शिल्प का आश्रय लेने को प्रेरित करते हैं। श्रीबल्लाल कवि सोलहवीं शती में हुए थे। संस्कृत-साहित्य के इतिहास पर यदि हम दृष्टिपात् करें तो हम पाते हैं कि वह काल काव्य-रचनाओं के क्षेत्र में कोई विशेष महत्त्व नहीं रखतां। बारहवीं शती के उत्तरार्द्ध में रचित महाकवि श्रीहर्ष के 'नैषधीयचरितम्' के पश्चात् अन्य किसी उल्लेखनीय महाकाव्य का दर्शन भी नहीं होता।[1]

और श्रीबल्लाल के समय तक तो परिस्थितियाँ और अधिक परिवर्तित हो चुकी थीं। राजनैतिक एवं सामाजिक कारणों से, रचनाओं में वीर रस भी ह्रासोन्मुख हो चुका था। तत्कालीन कविगण, श्रृंगारिक रचनाओं में रमणियों के नख-शिख-वर्णन, अथवा राजाओं के अतिरंजित वर्णनों द्वारा स्वार्थ-सिद्धि में तल्लीन थे। कविता केवल राजसभाओं तक ही सीमित होकर रह गई थी। संक्षेप में कहें तो संस्कृत काव्यधारा अवनत्युन्मुख हो चली थी।

1. उपाध्याय बलदेव : स० सा० का इति०, पृ० 228
अपि द्रष्टव्य : गैराला वाच०, स० सा० का स० इति०, पृ० 193-195

ऐसी परिस्थिति में किसी साधारण संस्कृत-प्रेमी का भी उद्वेलित हो उठना स्वाभाविक प्रतीत होता है। फिर श्रीबल्लाल तो देवी सरस्वती और संस्कृत भाषा के परमोपासक थे। वे स्वयं तो ज्योतिर्विदों के प्रख्यात कुल में उत्पन्न हुए ही थे[1], साथ ही उन्हें संस्कृत साहित्य, पुराणों, चिकित्सा-शास्त्र आदि का प्रखर ज्ञान था। इन तथ्यों के प्रमाण हमें भोजप्रबन्ध के गाढ़ानुशीलन[2] से स्वयमेव प्राप्त हो जाते हैं। अतः, इन जैसे साहित्य-प्रेमी का ध्यान, देवभाषा के पुनःप्रतिष्ठापन की ओर जाना नितान्त स्वाभाविक है। यही था इनका अन्तर्विरोध जिसने इन्हें इस रचना को प्रणीत करने पर बाध्य किया। अब हम उन दो प्रश्नों के उत्तरों के अन्वेषण का प्रयास करते हैं, फैण्टेसी के प्रकाश में। ये दोनों प्रश्न उत्तर की दृष्टि से परस्पर गुम्फित हैं। अतः पहले प्रश्न संख्या दो का उत्तर दिया जा रहा है जो कि प्रश्न संख्या एक के उत्तर के आधार का भी निर्वहण करेगा।

श्रीबल्लाल ने भोजप्रबन्ध में दिखलाया है कि महाकवि कालिदास धारा नगरी की राजसभा में विशेष रूप में सम्मानित एवं समादृत हो रहे हैं। वस्तुतः, महाकवि कालिदास संस्कृत साहित्य में इतने प्रतिष्ठित हैं कि संस्कृत का नाम आते ही, उन्हीं का नाम रसनाग्र पर थिरकने लगता है।[3] यदि हम संस्कृत साहित्य का पर्यायवाची महाकवि को कहें तो सम्भवतः अतिशयोक्ति न होगी। और उन्हें यह प्रतिष्ठा यूं ही प्राप्त नहीं हो गई। इसके लिए उन्होंने जो कठोर काव्य-साधना की, वह जगत्प्रसिद्ध है। और इसीलिए, उनके रचना-काल को भी विद्वत्समुदाय ने संस्कृत-साहित्य के उत्कर्ष-काल के रूप में वर्णित किया है।[4] तो जब श्रीबल्लाल कवि, महाकवि कालिदास का उल्लेख करते हैं तो वे केवल महाकवि कालिदास नामक व्यक्तिविशेष का उल्लेख नहीं कर रहे हैं,

1. डा॰ गोरखनाथ : भा॰ ज्यो॰ का इतिहास, पृ॰ 193-195
2. पुराणों के संकेत-श्लोक 82, 84, 92, 259
   चिकित्सा-शास्त्र-अश्विनौ-प्रसंग।
   भो॰ प्र॰ : पृ. 189-191 (अग्रे द्रष्टव्य)
3. पुरा कवीनां गणनाप्रसंगे कनिष्ठिकाधिष्ठति कालिदासः।
   अद्यापि तत्तुल्य कवेऽभावात् अनामिका सार्थवती बभूव।।
4. विशेष द्रष्टव्य-उपा॰ बलदेव : स॰ सा॰ का इतिहास

अपितु वे उल्लेख कर रहें हैं संस्कृत-साहित्य के उत्कर्ष-काल का, उन साहित्यिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों का, जिन्हें हम महाकवि की रचनाओं में सर्वत्र परिव्याप्त पाते हैं जिनसे संस्कृत साहित्य गौरवान्वित हो पाया। अतः यह सिद्ध होता है कि महाकवि कालिदास उन्हीं साहित्यिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों के प्रतीक के रूप में यहाँ स्मृत हैं। महाकवि का शाकुन्तल नाटक, जिसमें महाकवि की प्रेम की अलौकिक अवधारणा, इन्हीं मूल्यों के चूडान्त निदर्शन के रूप में चित्रित है। (इसमें दर्शाया गया है कि किस प्रकार वासनात्मक प्रेम, विरहाग्नि में तपकर, शुद्ध होकर, विशुद्ध आत्मिक प्रेम में परिणत होता है तथा विशुद्ध प्रेम शारीरिक नहीं, अपितु आत्मिक ही होता है)।

अब यह स्पष्ट हो जाता है कि, सभी प्रसिद्धाप्रसिद्ध कवियों को भोजराज की सभा में एकत्रित करने और उन सब में महाकवि कालिदास को सर्वश्रेष्ठ घोषित करने के व्याज से, श्रीबल्लाल बताना चाहते हैं कि संस्कृत-साहित्य के उत्कर्ष-काल के मूल्य ही श्रेष्ठतम थे, जो संस्कृत को पुनः गौरव प्रदान कर सकते हैं। अतः कवियों को उन मूल्यों को ध्यान में रखते हुए ही रचना करनी चाहिए।

एक और उल्लेखनीय बात यह है कि यहाँ पर चर्चित सभी प्रसिद्ध कवि (यथा बाण, मयूर, माघ, भवभूति और दण्डी इत्यादि) भिन्न-भिन्न काल-क्रमों में हुए हैं और इन सभी ने स्व-विशेषताओं के कारण प्रसिद्धि प्राप्त की है। पर भोजप्रबन्ध में, जब हम देखते हैं कि कालिदास को ही सर्वश्रेष्ठ घोषित किया जा रहा है तो हमें पक्षपात का आभास होता है। पर, यह पक्षपात भी अर्थहीन एवं अनायास नहीं है। सूक्ष्म विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि महाकवि कालिदास के पश्चाद्वर्ती प्रायः सभी कवि शनैः-शनैः अलंकृत काव्य की ओर अग्रसर होते जा रहे थे। काव्य में, नैसर्गिक सहजता का जो आदर्श महाकवि के काव्य में उपलब्ध होता है, वह पश्चाद्वर्ती कवियों में नहीं। अतः श्रीबल्लाल का यह आशय भी स्पष्ट होता है कि काव्य में सहजता का प्राधान्य हो, अलंकरण का नहीं। इसीलिए, अन्य सभी कवियों की अपेक्षा कालिदास का उत्कर्ष दिखाया गया है। (इसी सहजता का संकेत

तन्तुवायवृत्तान्त[1] में भी प्राप्त होता है)।

कुछ विद्वान् कह सकते हैं कि यह ठीक है कि कालिदास यहाँ उत्कर्ष-काल के प्रतीक के रूप में चित्रित हैं, और नैसर्गिक सहजता के हेतु, अन्य कवियों की अपेक्षा उत्कृष्ट भी, पर राजा भोज की ही सभा में क्यों?

राजा भोज भी वस्तुतः नृपवर्ग या कवियों के गुणग्राही आदर्श आश्रयस्थल का प्रतीक है। इन नृपेन्द्रों ने ही समय-समय पर अनेकानेक महाकवियों एवं देवी सरस्वती के उपासकों को आश्रय देकर, प्रत्यक्ष रूप से उनकी तथा अप्रत्यक्ष रूप से संस्कृत-साहित्य की सेवा एवं सहायता की है। और जहाँ तक नृपवर्ग प्रतीक के रूप में राजा भोज के औचित्य का प्रश्न है, तो संस्कृत साहित्य में केवल दो ही राजाओं को यह सम्मान प्राप्त हुआ है कि वे कथाओं का आधार बन सकें। एक विक्रमादित्य और दूसरे महाराज भोज। इनमें से विक्रमादित्य को लेकर तो अनेक कथा-संग्रहों यथा वेतालपंचविंशति, सिंहासनद्वात्रिंशिका इत्यादि का प्रणयन हो चुका था। फिर, 'विक्रम' शब्द एक संज्ञा-मात्र न रहकर, एक उपाधि की प्रतिष्ठा को पा चुका था। भारतवर्ष में अनेक राजा विक्रम हुए हैं, और उनमें से भी दो तो परम प्रतापी के रूप में विख्यात हैं-एक विक्रमादित्य प्रथम, दूसरे चंद्रगुप्त विक्रमादित्य (गुप्तकालीन)। तो सम्भवतः, श्रीबल्लाल ने अपनी यथार्थाधारित कल्पना का आधार, महाराज भोज को बनाना अधिक उचित समझा होगा। क्योंकि उनके विषय में कोई ऐसा मतभेद भी नहीं था, तथा वे थे भी विक्रम से अर्वाचीन (भोजराज 11वीं शती में हुए थे)।[2] ये भी अत्यन्त दानवीर थे। श्रीबल्लाल के समय अर्थात् सोलहवीं शताब्दी तक आते-आते भोजराज अत्यन्त लोकप्रिय, उदार एवं दानशील राजा के रूप में ख्यातिलब्ध हो चुके थे। इन्हीं गुणों को श्रीबल्लाल ने, भोजप्रबन्ध के कथामुख में चित्रित किया है। वस्तुतः, यह कथामुख आगे आने वाली कथा के लिए आधारभूमि का कार्य करता है। राजा भोज का शैशव, ज्योतिषी द्वारा उनके लिए की गई भविष्यवाणी[3] बालक भोज की हत्या का समाचार

1. भो॰ प्र॰, श्लोक 94-98
2. आ॰ उपा॰ बलदेव : स॰ सा॰ का इति॰, पृ॰ 609
3. द्रष्टव्य : भोजप्रबन्ध, श्लोक 6,
'भोजराजेन भोक्तव्यः सगौडो दक्षिणापथः।।'

सुनने पर जन-समुदाय द्वारा अभिव्यक्त विद्रोहमूलक प्रतिक्रिया[1] और उनके जीवित होने का समाचार सुनने पर नगरवासियों द्वारा कृत उनका स्वागत-सम्मान[2], ये सभी घटनाएं इस फैण्टेसी में सक्रियता लाते हुए, आगे आने वाली कथा में भोज को एक दानशील, लोकप्रिय, विद्वत्प्रिय, साहसी एवं दयालु नृप के रूप में प्रख्यापित करते हैं। भोजराज को एक आदर्श प्रतीक दर्शाने हेतु यह सब आवश्यक था। कालिदास तो पहले से ही प्रतिष्ठित एवं सम्मानित थे, अतएव उनके लिए ऐसी किसी पृष्ठभूमि की अपेक्षा न थी।

कथा में दो बार, भोजराज महाकवि कालिदास से रुष्ट होकर उन्हें निर्वासित कर देते हैं और दोनों ही बार विनयपूर्वक वापस भी बुलाते हैं। पर तीसरी बार, ऐसा होता है कि भोज अपनी मृत्यु पर कहे जाने वाले श्लोक को महाकवि कालिदास के मुख से सुनना चाहते हैं। इस बार कालिदास रुष्ट होकर चले जाते हैं, क्योंकि योग्य आश्रय के अभाव में कविता का ह्रास होना तथा कवियों को यथोचित सम्मान न मिलना स्वाभाविक है। यहाँ फैण्टेसी की सक्रियता फिर हमारे सामने प्रकाशित होती है-जब महाकवि यह श्लोक पढ़ते हैं-

"अद्य धारा निराधारा निरालम्बा सरस्वती।
पण्डिताः खण्डिताः सर्वे भोजराजे दिवं गते।।[3]

इस प्रकार राजा भोज, एक आदर्श प्रतीक के रूप में हमारे समक्ष उपस्थित होते हैं। अपि च, श्रीबल्लाल ने यह भी सोचा होगा कि यदि इन महान् सरिता रूपी कवियों का कोई संगम-स्थल हो सकता है, तो वह राजा भोज जैसा कोई गुणाकर ही हो सकता है। और, संस्कृत-साहित्य

---

1. 'ततो गृहीते भोजे लोकाः कोलाहलं चक्रुः......प्राणपरित्यागं विदधुः।।'
भो० प्र० : पृ. 110 (अग्रे द्रष्टव्य)
2. 'गजेन्द्रारूढो.......राजभवनमगात्।।'
वही, पृ. 114
3. वही, श्लोक 326

के उत्कर्ष-काल के मूल्यों के प्रतिनिधित्व के लिए, महाकवि कालिदास से उत्कृष्ट कोई प्रतीक सम्भवतः अद्यापि समुपलब्ध न हो। प्रतीकों के चयन में इस सावधानी एवं सूक्ष्मता को श्रीबल्लाल की यथार्थप्रियता के प्रमाण के रूप में भी उद्धृत किया जा सकता है।

इस प्रकार यह प्रमाणित हो जाता है कि भोजप्रबन्ध में सभी कवियों के एक साथ उपस्थित करने और उनमें महाकवि कालिदास को सर्वोत्कृष्ट दर्शाने के पीछे, कवि श्रीबल्लाल का पुनीत उद्देश्य था : काल के प्रवाह के साथ लुप्तप्राय होते जा रहे गौरवशाली साहित्यिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों का पुनर्स्थापन, जिससे कि संस्कृत वाङ्मय फिर से समृद्ध एवं गौरवशाली हो सके।

फैण्टेसी, यद्यपि अधुना एक अयथार्थवादी शिल्प माना जाता है[1], परन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं है। फैण्टेसी के प्रयोग में कई प्रकार की सुविधाएं होती हैं, जिनका उल्लेख हिन्दी के प्रसिद्ध आलोचक गजानन माधव मुक्तिबोध ने इस प्रकार किया है-'एक तो यह कि जिए और भोगे गए जीवन की वास्तविकताओं के बौद्धिक अथवा सारभूत निष्कर्षों को अर्थात् जीवन-ज्ञान को (वास्तविक ज़ीवनचित्र न उपस्थित करते हुए) कल्पना के रंगों में उपस्थित किया जा सकता है। इस प्रकार की ज्ञान-गर्भ फैण्टेसी वास्तविक जीवन का ही प्रतिनिधित्व करती है। लेखक वास्तविकता के प्रदीर्घ चित्रण से बच जाता है। वह संक्षेप में, ज्ञानगर्भ फैण्टेसी द्वारा, सार-रूप में, जीवन की पुनर्रचना करता है' 'काव्य में यथार्थ की असमापनीयता, विसंगति, संश्लिष्टता, आत्मपक्ष और वस्तुपक्ष, सबको एक साथ समेटने के लिए जरूरी है कि कवि फैण्टेसी का सहारा ले।'[2]

इन शब्दों के प्रकाश में, भोजप्रबन्ध को देखने से इसके विषय में विद्यमान सारे विभ्रम समाप्तप्राय हो जाते हैं। श्रीबल्लाल ने अपने संवेगों को तथा अपने असन्तोष को भोजप्रबन्ध के माध्यम से मुखरित किया है। उन्हें उन लुप्तप्राय मूल्यों का पुनर्स्थापन करना था, साथ ही,

1. लूनाचार्स्की, अनातोले: 'यथार्थ से असन्तुष्ट व्यक्ति ही फैंटेसी की ओर मुड़ते हैं।'
2. मुक्तिबोध, ग॰ मा॰ : कामायनी : एक पुनर्विचार, पृ॰ 6

किन मूल्यों को आदर्श मानकर, उनके समकालीन अथवा पश्चाद्वर्ती रचनाकार, अपनी रचनाओं का प्रणयन करें, यह भी दर्शाना था। अब इसका एक उपाय था कि वे 'संस्कृत-साहित्य की विशद-विवेचना' नामक कोई ग्रन्थ लिखते, जिसमें महाकवि कालिदास से लेकर, अपने समय तक, काव्य एवं रचनाओं की शैली, भाषा, संरचना आदि का क्रमिक विकास (अथवा ह्रास) दर्शाते और फिर उपसंहार में, आदर्श मूल्यों एवं भाषादि तत्त्वों का निर्देश देते। और दूसरा उपाय था कि वे भोजप्रबन्ध नामक फैण्टेसी का प्रणयन करते, जिसमें एक छोटे से ग्रन्थ में (मात्र 327 श्लोकों में), सार-रूप में जीवन की पुनर्रचना कर, वे अपनी बात कह देते। उन्होंने दूसरा उपाय चुना और मूल्यों के पुनर्स्थापन का प्रयास किया।

विद्वानों का मानना है कि फैण्टेसी मात्र कपोलकल्पना नहीं अपितु यह यथार्थ पर आधारित होती है और इसका यथार्थ से निश्चित एवं सक्रिय सम्बन्ध होता है। भोजप्रबन्ध में, जिन भी कवियों का उल्लेख है, वे किसी-न-किसी समय में हुए अवश्य हैं। और जैसा कि अभी बताया गया है कि कालिदास यहाँ उत्कर्ष काल के मूल्यों के रूप में स्मृत हैं। और सम्बन्ध सदा उभयाश्रित होता है तो यहाँ अर्थात् भोजप्रबन्ध में, आधार (महाकवि कालिदास) और आधेय (वे मूल्य) में जो तादात्म्य, जो अभिन्नता है, वही इनके निश्चित अथवा विशिष्ट सम्बन्ध का द्योतक है। इसे हम इस प्रकार भी समझ सकते हैं:-

(1) कालिदास उन्हीं मूल्यों के पोषक एवं प्रवर्द्धक थे;

(2) वे मूल्य हमें उनके काव्य में उत्कृष्टतया चित्रित मिलते हैं।

यही है इनका सम्बन्ध विशेष अथवा निश्चित सम्बन्ध। और इन मूल्यों तथा महाकवि की रचनाओं में मिलने वाला समान सन्दर्भ सूत्र इनके इस विशिष्ट संबंध को सक्रिय अर्थात् क्रिया-कलाप युक्त (अथवा व्यापारवान्) बनाता है।

इस (फैण्टेसी) प्रकार के शिल्प में, विभाव-पक्ष अथवा वस्तु-पक्ष गौण अथवा प्रच्छन्न होता है। कवि अपनी रचना में विभाव-पक्ष

के प्रति उतना सजग नहीं होता, जितना कि भाव-पक्ष के प्रति। भोजप्रबन्ध में हम देखते हैं कि 'सभी कवि, एक ही साथ, भोजराज की राजसभा में'। पर, यह विस्मृत नहीं करना चाहिए कि ये सभी वस्तु-पक्ष के अन्तर्गत आते हैं और फैण्टेसी में वस्तुपक्ष में मुक्तिबोध ने इन्हीं तत्त्वों का विशद विवेचन करते हुए, इसकी व्याख्या इस प्रकार की है-

'रोमैण्टिक भाववादी आत्म-परक कला में, कल्पना अधिक स्वतन्त्र होकर, अधिकतर भाव-पक्ष का ही मूर्त्त-विधान करती है और विभाव-पक्ष को प्रतीकों अथवा अन्य प्रकार से मात्र सूचित अथवा ध्वनित कर देती है।'[1]

और इन्हीं विद्वान के ये उद्‌गार तो मानो भोजप्रबन्ध के लिए ही लिखे गए हों, 'फैण्टेसी में विभाव-पक्ष के कल्पना-बिम्ब प्रतीकात्मक होकर, अपनी मूल भूमि से इतनी दूर जा पड़ते हैं कि वे विभाव-पक्ष का भूगोल और इतिहास छोड़कर, उसका दिक्काल त्यागकर, अपना एक स्वतन्त्र भूगोल और इतिहास, अपना स्वतन्त्र दिक्काल स्थापित कर लेते हैं।'[2]

ये सभी उपर्युक्त कथन भोज-प्रबन्ध में शतप्रतिशत चरितार्थ होते दिखाई देते हैं। यहाँ सभी कवि (वस्तु-पक्ष या विभाव पक्ष के कल्पना-बिम्ब) अपने-अपने काल (इतिहास) एवं स्थान (भूगोल) को छोड़कर, अपने को, उन-उन कालगत (या अपनी-अपनी समकालीन), नवीन इतिहास (श्रीबल्लाल का रचनाकाल या सोलहवीं शताब्दी) का निर्माण करते हुए, अपना स्वतन्त्र दिक्काल स्थापित करते हैं।

इस प्रकार, हम पाते हैं कि फैण्टेसी नामक इस शिल्प के अधिकांश तत्त्व भोजप्रबन्ध में विद्यमान हैं। वस्तुतः फैण्टेसी-शिल्प के विषय में अद्यावधि अधिक कार्य नहीं हुआ है और यह तो सर्वविदित तथ्य है कि, सदा से लक्षण-ग्रन्थों का निर्माण लक्ष्य-ग्रन्थों के बाद ही होता आया है तो इस दृष्टि से, यदि फैण्टेसी का कोई नगण्य-महत्त्वहीन

---

1. मुक्तिबोध ग॰ मा॰ : कामायनी : एक पुनर्विचार, पृ॰ 5
2. वही

तत्त्व हमें भोजप्रबन्ध में न भी मिले, तो इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। यदि इसकी विसंगतियों का समाधान, इसे फैण्टेसी मानने से हो जाता है, तो विद्वत्समाज को भी इसे एक फैण्टेसी के रूप में स्वीकारने में कोई समस्या नहीं होनी चाहिए।

भोजप्रबन्ध में अलंकार

अलंकार पद, 'अलम्' पूर्वक कृ धातु के प्रयोग से 'अलङ्क्रियते अनेन' अथवा 'अलङ्करोति' व्युत्पत्ति करने पर करण या भाव अर्थ में 'घञ्' प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है। इस पद का अर्थ है-जिस पदार्थ या तत्त्व के द्वारा कोई वस्तु सुशोभित की जाए, उसके सौन्दर्य में वृद्धि हो, वह पदार्थ या तत्त्व अलंकार कहलाता है। जिस प्रकार भौतिक शरीर (अलंकार्य) को कुण्डलादि (अलंकार) अलंकृत करते हैं, उसी प्रकार, शब्दार्थ रूपी शरीर वाले काव्य (अलंकार्य) को उपमा आदि (अलंकार) अलंकृत करते हैं।

काव्य में अलंकारों का प्रयोग मानव सभ्यता के आद्यतम ग्रन्थ **ऋग्वेद** में भी प्राप्त होता है। एक स्थान पर ऋषि वसिष्ठ इन्द्र से पूछते हैं-**'का ते अस्त्यरङ्कृतिः सूक्तैः।'**[1] यहां 'अरंकृत' पद सौन्दर्यवाची होने पर भी, उस पारिभाषिक अर्थ के रूप में प्रयुक्त नहीं हुआ है, जैसा कि उत्तरवर्ती लौकिक संस्कृत के युग में हुआ। पर, ऋग्वेद में भी अतिशयोक्ति[2], श्लेष[3], उपमा[4] एवं रूपकादि[5] अलंकार अनेक मन्त्रों में मिलते हैं।

ऋग्वेद के अनन्तर **ब्राह्मण-ग्रन्थों**[6] तथा **उपनिषदों**[7] में अलंकार पद का प्रयोग सौन्दर्याधायक तत्त्व के रूप में स्पष्टतः किया गया; पर इस समय तक भी इस पद का सम्बन्ध काव्यशास्त्र से नहीं हुआ था।

---

1. ऋ॰ 7.29.3
2. वही, 1.164.20
3. वही-1.164.21
4. वही-3.33.1
5. वही-4.58.3
6. शतपथब्राह्मण-13.8.4.7
7. वसनेन अलंकारेणेति संस्कुर्वन्ति। छा॰ उप॰-8.8.5

अलंकार पद का काव्यशास्त्रीय प्रयोग सम्भवतः सर्वप्रथम **यास्काचार्य** के **निरुक्त** में किया गया है। इसमें 'अरंकृत' पदों को पर्यायवाची मानते हुए[1] उपमा पद की निरुक्ति दी गई है[2]। इन्होंने उपमा के अनेक भेदों को भी दर्शाया।

महामुनि **पाणिनी** के समय में अलंकारों का शास्त्रीय निर्वचन हो चुका होगा। उन्होंने उपमा, सादृश्य, उपमान, सदृश आदि शब्दों के प्रयोग अपने सूत्रों में किए हैं।[3] **कात्यायन** ने उपमावाचक 'इव' शब्द के साथ नित्य समास करने का विधान किया। **पतंजलि** ने भी पाणिनीय सूत्रों के उपमा, उपमान, उपमित आदि पदों का निर्वचन प्रस्तुत किया।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि वेद, ब्राह्मण, उपनिषद्, निरुक्त एवं व्याकरण आदि शास्त्रों में अलंकारों के निर्वचन का संकेत होने पर भी, उस युग के किसी ऐसे अलंकार ग्रंथ की उपलब्धि नहीं होती, जिसमें अलंकारों की शास्त्रीय विवेचना की गई हो। अलंकारों का सूक्ष्मरूपेण शास्त्रीय विवेचन सर्वप्रथम **भरतमुनि** के **नाट्यशास्त्र** में मिलता है।[4] उनसे लेकर **अप्पय दीक्षित** तक अलंकारों की संख्या 125 तक पहुँच गई।

आचार्य **भामह** ने **काव्यालंकार** में, सर्वप्रथम अलंकारों को काव्य के आत्मतत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित किया। उनके अनुसार, जिस प्रकार कामिनी का मुख सुन्दर होते हुए भी, भूषण के बिना शोभायमान नहीं होता[5], उसी प्रकार अलंकारों के बिना काव्य की शोभा नहीं होती।

---

1. सोमा अरंकृता अलंकृता। नि॰ 10.1.2
2. उपमा अतत् तत्सदृशम्।।- नि॰ 3.3.14
3. अष्टा॰ 2.1.55; 3.1.10; 6.2. 11
4. उपमा रूपकं चैव दीपकं यमकं तथा।
   अलंकारास्तु विज्ञेयाश्चत्वारो नाटकाश्रयाः।।
   ना॰ शा॰ 17.43
5. न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिताननम्।
   का॰ 1.13

इनके पश्चात् तो अलंकारों का महत्त्व, काव्य में और भी बढ़ गया और पश्वाद्वर्ती प्रायः सभी आचार्यों ने अलंकारों को भी विवेचित किया।

कुछ प्रमुख आचार्यों द्वारा प्रतिपादित 'अलंकार' की परिभाषा पर दृष्टिपात् यहां अप्रासंगिक न होगा।

भामह के अनुसार शब्द और अर्थ की वक्रता से युक्त उक्ति ही अलंकार है **वक्राभिधेय शब्दोक्तिरिष्टा वाचामलंकृतिः।** (1.36)

आचार्य **दण्डी** ने **काव्यादर्श** में काव्य के सभी शोभाकर धर्मों को अलंकार प्रतिपादित किया और कहा कि ये धर्म अनेक प्रकार के हैं, जिनकी गणना नहीं की जा सकती।[1] **अग्निपुराण** में भी दण्डी के ही मत का अनुसरण किया गया है।[2]

आचार्य **वामन** के अनुसार काव्य की उपादेयता सौन्दर्यरूप अलंकार के कारण ही है।[3] काव्य की शोभा यद्यपि गुणों के द्वारा होती है, तथापि उस शोभा का अतिशय अलंकारों से ही होता है।[4]

आचार्य **आनन्दवर्धन** के अनुसार, काव्य के अलंकार का नियोजन रसादि के अंग रूप में होना चाहिए, अंगी रूप में नहीं।[5] साथ ही, इनका विनिवेशन, रस की दृष्टि से ही किया जाना चाहिए, उनके लिए पृथक् से प्रयास नहीं होना चाहिए।[6]

---

1. काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते।
   ते चाद्यापि विकल्प्यन्ते कस्तान् कार्त्स्न्येन वच्यति।।
   (काव्या॰ 2.1)
2. अग्निपुराण- 42.17
3. काव्यं ग्राह्यमलंकारात्। सौन्दर्यालंकारः।। (काव्या॰ सूत्र 1.1.2)
4. काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः।
   तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः।। (काव्या॰ सूत्र 3.1.1 एवं 3.1.2)
5. अंगाश्रितास्त्वलंकाराः मन्तव्याः कटकादिवत्।।
   (ध्व॰ 2.7)
6. रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत्।
   अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलंकारो ध्वनो मतः।।
   (ध्व॰ 2.17)

आचार्य **मम्मट** के अनुसार हारादि आभूषणों के समान, जो तत्त्व, काव्य के आत्मभूत उस तत्त्व (अर्थात् रस) को, अंगरूप से कभी-कभी (नियमेन सर्वदा नहीं) उपकृत करते हैं, वे (अनुप्रासादि शब्द और उपमादि अर्थ) अलंकार कहलाते हैं।[1]

आचार्य **विश्वनाथ** के अनुसार, शब्द और अर्थ की शोभा बढ़ाने वाले अस्थिर धर्म अलंकार कहलाते हैं और ये उसी प्रकार रसादि को उपकृत करते हैं जैसे केयूरादि आभूषण मनुष्य को।[2]

इस प्रकार, इन सभी प्रमुख आचार्यों के विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि अलंकार, काव्य में अपरिहार्य होते हैं। ये शब्द और अर्थ के अस्थिर धर्म होते हैं तथा अनायास ही, रसानुकूलतः प्रयुक्त होने पर ये उनके उपकारक होते हैं।

साहित्यदर्पणकार के अनुसार, शब्द और अर्थ में शब्द ही बुद्धि में पहले उपस्थित होता है, अतः **शब्दालंकार** ही पहले कहने चाहिएं।[3] अतः, यहाँ भी पहले भोजप्रबन्ध में आगत शब्दालंकारों पर प्रकाश डाला जा रहा है।

शब्दालंकारों में **अनुप्रास** सर्वप्रथम परिगणित होता है। अनुप्रास का लक्षण, साहित्यदर्पण के अनुसार इस प्रकार है-

अनुप्रासः शब्दसाम्यं वैषम्येऽपि स्वरस्य यत्।
(सा॰ द॰, दशम परि॰)

अर्थात् स्वर की विषमता रहने पर भी, शब्द अर्थात् पद, पदांश के सादृश्य को अनुप्रास कहते हैं। स्वरों की समानता चाहे हो, या न हो, पर जहाँ अनेक एक-से व्यंजन मिलें, वहाँ यह अलंकार होता है। अनुप्रास का भोजप्रबन्ध में आगत यह उदाहरण अवलोकनीय है-

1. उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः।।
(का॰ प्र॰ 6.67)
2. शब्दार्थयोरस्थिरा धर्माः शोभातिशयशालिनः।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्तेऽङ्गदादिवत्।।
(सा॰ द॰ 10.1)
3. शब्दार्थयोः प्रथमं शब्दस्य बुद्धिविषयत्वाच्छब्दालंकारेषु वक्तव्येषु।
वही, (दशम परि॰)

अघटितघटितं घटयति सुघटितघटितानि दुर्घटीकुरुते।
विधिरेव तानि घटयति यानि पुमानैव चिन्तयति।।[1]

अर्थात् विधि अनहोनी वस्तु को भी होनी कर देती है, होने वाली वस्तु को बिगाड़ देती है। मनुष्य को (स्वप्न में भी) जिसका विचार नहीं आता, उसे वह (संपादित भी) कर देती है।

भोजप्रबन्ध में अनुप्रास के कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं।[2]

यमक

इस अलंकार का लक्षण **साहित्यदर्पण** के अनुसार, इस प्रकार है-

सत्यर्थे पृथगर्थायाः स्वरव्यञ्जन संहतेः।
क्रमेण तेनैवावृत्तिर्यमकं विनिगद्यते।।
(10.8)

अर्थात् यदि अर्थवान् हो, तो भिन्न अर्थ वाले, स्वर-व्यंजन समुदाय की उसी क्रम से आवृत्ति को यमक कहते हैं। जिस समुदाय की आवृत्ति हो, उसका एकांश या सर्वांश यदि अनर्थक हो तो कोई आपत्ति नहीं, पर उसके किसी एक अंश या सर्वांश के सार्थक होने पर आवृत्त समुदाय की भिन्नार्थकता अनिवार्य है। भोजप्रबन्ध में, इस अलंकार का यह उदाहरण द्रष्टव्य है-

राजन्दौवारिकादेव प्राप्तवानस्मि वारणम्।
मदवारणम् इच्छामि त्वत्तोऽहं जगतीपते।।
(श्लोक 310)

अर्थात् हे राजन्! मुझे द्वारपाल से वारण (निवारण) प्राप्त हुआ पर अब मैं आपसे मदोन्मत्त वारण (हाथी) चाहता हूं।

प्रस्तुत पद्य में वारण शब्द की पुनरावृत्ति भिन्न-भिन्न अर्थों में हुई है। अतः यहाँ पर यमक स्पष्ट है।

1. भोजप्रबन्ध, श्लोक 144
2. वही, श्लोक 266, 268, 318 इत्यादि।

अपि च, भोजप्रबन्ध श्लोक 61 में भी यमक अलंकार दर्शनीय है-

दानोपभोगवन्ध्या या सुहृद्भिर्या न भुज्यते।
पुंसां समाहिता लक्ष्मीरलक्ष्मीः क्रमशो भवेत्॥

अर्थात् जिस मनुष्य का धन, दान अथवा उपभोग में काम नहीं आता, और मित्रों द्वारा भी नहीं भोगा जाता, वह क्रमशः दरिद्र हो जाता है।

यहाँ भी लक्ष्मी एवं (अ) लक्ष्मी पद भिन्नार्थक हैं, अतः यमक अलंकार है।

श्लेष

इसके पश्चात्, अलंकारों में श्लेषालंकार की गणना होती है। श्लेष अलंकार का लक्षण है-

श्लिष्टैः पदैरनेकार्थाभिधाने श्लेष इष्यते।
वर्णप्रत्ययलिङ्गानां प्रकृत्योः पदयोरपि॥[1]

अर्थात् श्लिष्ट पदों से अनेक अर्थों का अभिधान होने पर श्लेषालंकार होता है। वर्ण, प्रत्यय, लिंग, प्रकृति, पद, विभक्ति, वचन और भाषा, इनके श्लिष्ट होने के कारण, यह आठ प्रकार का होता है।

कविमतिरिव बहुलोहा सुघटितचक्रा प्रभातवेलेव।
हरमूर्तिरिव हसन्ती भाति विधूमानलोपेता॥[2]

अर्थात् बहुलोह (बहुल ऊह-तर्क) वाली-कवि की मति के समान; बहुलोह (अर्थात् बहुत लोहे) वाली, सुघटित चक्र (चक्रवाक पक्षी-मण्डल) वाली प्रभात वेला के सदृश; सुघटित चक्र (मण्डल) वाली तथा विधूमानल (विधु-चंद्र); उमा (पार्वती) अनल (अग्नि) से युक्त शिवजी मूर्ति के समान; विधूमानल (धूम रहित अग्नि) से परिपूर्ण,

1. सा॰ द॰ : दशम परि॰, श्लोक 11
2. भो॰ प्र॰: श्लोक 301

अंगीठी, शोभायमान होती है। उपर्युक्त श्लोक में श्लेष की सुन्दर छटा दिखलायी देती है।

इसी प्रकार, यह श्लोक भी श्लेष अलंकार का सुन्दर उदाहरण है-

प्रायो धनवतामेव धने तृष्णा गरीयसी।
पश्य कोटिद्वयासक्तं लक्षाय प्रवणं धनुः॥[1]

अर्थात् धनवान् द्रव्य की विशेषरूपेण अभिलाषा करते हैं, देखिए धनुष के यद्यपि दो कोटि (करोड़, सिरे) हैं, तब भी वह लक्ष (लाख, लक्ष्य=निशाने) की ओर झुकता है।

यहाँ 'कोटि' एवं 'लक्ष' शब्दों में श्लेष का सुन्दर प्रयोग किया गया है।[2]

अर्थालंकार

यहाँ तक शब्दालंकारों का परिचय दिया गया था। अब **भोजप्रबन्ध** में आगत **अर्थालंकारों** का निरूपण करते हैं।

उपमा

शब्दालंकारों में सर्वप्रथम उपमा का परिगणन किया गया है। इसका लक्षण है-

'साम्यं वाच्यमवैधर्म्यं वाक्यैक्य उपमा द्वयोः॥[3]

एक वाक्य में, दो पदार्थों के वैधर्म्य रहित, वाच्य सादृश्य को उपमा कहते हैं। उपमा अलंकार को दर्पणकार ने सादृश्यमूलक अलंकारों का प्राणभूत-उपजीव्य माना है। (**सादृश्यमूलेषु लक्षितव्येषु तेषामप्युपजीव्यत्वेन प्रथममुपमाहा**-सा० द० दशम परि०, पृ० 292)।

1. वही, श्लोक 60
2. वही, श्लोक 311 भी श्लेष का सुन्दर उदाहरण है।
3. सा० द०, दशम परि०, सूत्र 14, पृ० 292

भोजप्रबन्धकार ने भी संभवतः इसके महत्त्व को ध्यान में रखते हुए, अपने पद्यों में, इसी अलंकार का सर्वाधिक प्रयोग किया है। प्रायः 10 श्लोकों में उपमा का स्पष्ट प्रयोग है।[1]

इसका यह श्लोक पूर्णोपमा का अच्छा उदाहरण है–

'प्रज्ञागुप्तशरीरस्य किं करिष्यन्ति संहताः।
हस्तन्यस्तातपत्रस्य वारिधारा इवारयः॥'
(श्लोक 15)

अर्थात् जिस प्रकार, छत्रधारी का जलवृष्टि कुछ (अपकार) नहीं कर सकती, वैसे ही, बुद्धि से काम करने वाले का, संगठित वैरी भी कुछ (अपकार) नहीं कर सकते।

सामान्य धर्म, औपम्यवाची, उपमेय और उपमान ये चारों यदि वाच्य हों अर्थात् किसी शब्द से प्रतिपादित हों (अर्थात् व्यंग्य या आक्षेप्य न हों) तो उसे पूर्णोपमा कहते हैं।[2] उपर्युक्त पद्य में 'प्रज्ञागुप्तशरीरस्य' रूपी उपमेय, 'हस्तन्यस्तातपत्रस्य' रूपी उपमान, 'किं करिष्यन्ति संहताः' रूपी साधारण धर्म और 'वारिधारा इव अरयः' रूपी औपम्यवाची का स्पष्ट निर्देश होने से यहां पूर्णोपमा की सिद्धि होती है।

अपि च,

यथाङ्कुरः सुसूक्ष्मोऽपि प्रयत्नेनाभिरक्षितः।
फलप्रदो भवेत्काले तथा लोकः सुरक्षितः॥
(श्लोक 42)

अर्थात् जैसे समुचित रीति से रक्षित, लघु अंकुर भी समय आने पर फलदायक होता है, उसी प्रकार रक्षित प्रजा भी (समय पर फल देती है।)।

1. भो॰ प्र॰, श्लोक सं॰ 5, 15, 19, 42, 70, 77, 112, 116, 117, 146, 163, 321 इत्यादि।
2. सा पूर्णा यदि सामान्यधर्म औपम्यवाचि च।
उपमेयं चोपमानं भवेद्वाच्यम्॥–सा॰ द॰, दशम परि॰, पृ॰ 292 दो पदार्थों की तुलना के कारणीभूत गुण क्रियादि को सामान्य या साधारण धर्म कहते हैं। इव, यथा, तुल्यादि शब्द उपमावाचक कहलाते हैं। प्रकरण में वर्णनीय उपमेय माने जाते हैं तथा उनकी सुन्दरता आदि के निरूपक चंद्रादिक उपमान कहलाते हैं।

यहाँ पर सेवक की उपमा अंकुर से दी गई है, जो अत्यन्त सार्थक है। जैसे छोटे से अंकुर की अच्छी देखभाल एक फलदायी वृक्ष के रूप में परिणत होती है, उसी प्रकार बालावस्था से रक्षित सेवक, बड़ा होकर, एक स्वामिभक्त एवं विश्वासपात्र सेवक के रूप में परिणत होता है।

इसी प्रकार, भोजप्रबन्ध का 19 वां पद्य भी उपमा अलंकार का सुन्दर उदाहरण है क्योंकि, यहाँ 'परम्परा' रूपी अमूर्त्त उपमान का विधान किया गया है।[1]

रूपक

उपमा के अनन्तर, रूपक अलंकार का परिगणन किया गया है। इसका लक्षण है-

'रूपकं रूपितारोपो विषये निरपह्नवे॥[2]

अर्थात् निरपह्नव अर्थात् निषेधरहित विषय (उपमेय) में रूपित (अपह्नवभेद उपमान) के आरोप को रूपकालंकार कहते हैं। जहाँ भेदरहित उपमान का उपमेय में आरोप हो, पर उपमेय के स्वरूप का निषेधक कोई शब्द न हो वहाँ रूपक होता है। इसका उदाहरण-

दारिद्र्यानलसन्तापः शान्तः संतोषवारिणा।
याचकाशाविघातान्तर्दाहः केनोपशाम्यते॥[3]

अर्थात् दरिद्रता रूपी अग्नि का सन्तोष संतोष रूपी जल से शीतल हो जाता है, पर याचकों के निराश लौटने रूपी (हृदय की) अन्तर्ज्वाला, भला किससे शीतल हो सकती है।

यहाँ पर दरिद्रता पर अग्नि का, संतोष पर जल का तथा याचकों की निराशा पर हृदय की अन्तर्ज्वाला का आरोप किया गया है। अतः,

---

1. 'पारम्पर्य इवासक्तस्त्वत्पाद उदरम्भरिः।
तद्वधे कारणं नैव पश्यामि नृपपुङ्गव॥' (श्लोक 19)
2. सा० द० दशम परि०, श्लोक 28, पृ० 303
3. भो० प्र०, श्लोक 103

यहाँ रूपक अलंकार है।

इसका एक उदाहरण भी द्रष्टव्य है-

भोजत्वत्कीर्तिकान्ताया नभोभालस्थितं महत्।
कस्तूरीतिलकं राजन् गुणाकार विराजते।।[1]

अर्थात् हे राजन्! हे गुणाकार! आपकी कीर्ति रूपी रमणी का विशाल कस्तूरी तिलक, उसके आकाशरूपी ललाट पर लगा हुआ है। (अर्थात् आपका यश आकाश तक व्याप्त हो गया है)।

यहाँ कीर्ति पर रमणी का तथा आकाश पर उसके ललाट का आरोप होने से रूपकालंकार है। उनके अतिरिक्त, रूपक अलंकार के अन्य भी कतिपय सुन्दर उदाहरण भोजप्रबन्ध में विद्यमान हैं।[2]

भ्रान्तिमान्

इसके पश्चात् अलंकारों के क्रम में भ्रान्तिमान् अलंकार का कथन किया गया है।[3] सादृश्य के कारण किसी वस्तु में अन्य वस्तु के निश्चयात्मक ज्ञान को यदि वह कवि की प्रतिभा से उट्टंकित हो-भ्रांतिमान् अलंकार कहते हैं।[4] भोजप्रबन्ध में इस अलंकार का सुन्दर उदाहरण प्राप्त होता है-

बल्लालक्षोणिपाल त्वदहितनगरे संचरन्ती किराती
कीर्णान्यादाय रत्नान्युरुतरखदिराङ्गारशंका कुलांगी।
क्षिप्त्वा श्रीखण्डखण्डं तदुपरि मुकुलीभूतनेत्रा धमन्ती
श्वासामोदानुयातैर्मधुकरनिकरैर्धूमशंका बिभर्ति।।[5]

अर्थात् हे बल्लाल भूपाल! आपके रिपुओं के नगर में घूमती हुई भीलिनें विकीर्ण रत्नों को लेकर, उन रत्नों को खदिर के बड़े अंगारे

1. वही, श्लोक॰ 127
2. भो॰ प्र॰, श्लोक सं॰ 35, 72, 83, 112, 117, 127, 256, 273, 282
3. सा॰ द॰, दशम परि॰, श्लोक 36, पृ॰ 311
4. साम्यादतस्मिंस्तद्बुद्धिर्भान्तिमान् प्रतिभोत्थितः।।
   वही
5. भो॰ प्र॰, श्लोक 276

समझ कर व्यग्र होकर, उनके ऊपर चन्दर की लकड़ी के टुकड़े रखकर नेत्रों को बन्द करके हवा करती हैं (ताकि आग जल जाए) मन्द श्वास के चलने से जो चन्दन की सुगन्ध उड़ी, उससे उस पर भौंरे आ गए। उन भौंरों को देखकर वे (भीलिनें) उस लकड़ी से धूम निकल रहा है, ऐसी शंका करने लगीं।

प्रस्तुत पद्य में कवि ने स्व प्रतिभा से, रत्नों को खदिर और भौंरों के चन्दन के ऊपर मंडराने को भील स्त्रियों द्वारा, लकड़ी से निःसृत धूम मानने की शंका की जो कल्पना की है, वही इस भ्रांतिमान् अलंकार का उदाहरण है।

उल्लेख

उल्लेख नामक अलंकार का लक्षण है–

> **क्वचिद् भेदाद्गृहीतृणां विषयाणां तथा क्वचित्।**
> **एकस्यानेकधोल्लेखो यः स उल्लेख उच्यते।।[1]**

अर्थात् ग्रहीता (ज्ञाताओं) के भेद से या विषय अर्थात् हेतु और अवच्छेदक आदि के भेद से एक वस्तु का अनेक प्रकार से उल्लेख (वर्णन या ज्ञान) करना उल्लेखालंकार कहलाता है। इसका उदाहरण द्रष्टव्य है–

> **सेवा सुखानां व्यसनं धनानां याञ्चा गुरूणां कुनृपः प्रजानाम्।**
> **प्रणष्टशीलश्च सुतः कुलानां मूलावघातः कठिनः कुठारः।।[2]**

अर्थात् सेवा (नौकरी) सुखों की नाशकारिणी कुल्हाड़ी है। व्यसन धन का नाशकर्ता है। गुरूत्व (गौरव) की नाशकर्त्री याचना है। प्रजा का नाशकर्ता दुष्ट राजा है। और दुःशील मनुष्य का पुत्र कुल का नाशक होता है।

यहाँ पर नाशकारक कुठार के विभिन्न रूपों का वर्णन होने से उल्लेखालंकार है।

---

1. सा॰ दर्पण, दशम परि॰, श्लोक 37, पृ॰ 311
2. भो॰ प्र॰, श्लोक 101

अतिशयोक्ति

इसके पश्चात्, अतिशयोक्ति अलंकार का स्थान है। आचार्य विश्वनाथ के अनुसार, अध्यवसाय के सिद्ध होने पर अतिशयोक्ति अलंकार होता है।[1] विषय (या उपमेय) का निगरण करके विषयी (उपमान) के साथ उसका अभेदज्ञान अध्यवसाय कहलाता है। इसका उदाहरण भोजप्रबन्ध में इस श्लोक में प्राप्त होता है।-

'यत्राम्बु निन्दत्यमृतमन्त्यजाश्च सुरेश्वरान्।
चिन्तामणींश्च पाषाणस्तत्र नो वसतिः प्रभो।।'

(श्लोक 271)

अर्थात् हे राजन्! जहाँ का जल अमृत की निन्दा करता है, चाण्डाल देवों की स्पर्धा करते हैं तथा जहाँ के पत्थर चिंतामणि की समता करते हैं, हम वहीं पर रहते हैं।

यह अतिशयोक्ति के पाँच भेदों[2] में से उसके चतुर्थ भेद अर्थात् असम्बन्ध में सम्बन्ध का उदाहरण है। यहाँ साधारण जल का अमृत से, चाण्डालों का देवों से तथा साधारण पाषाण का चिन्तामणि से असम्बन्ध होने पर भी सम्बन्ध की कल्पना की गई है। अतः यह अतिशयोक्ति का उदाहरण है।

तुल्ययोगिता

इसके बाद, तुल्ययोगिता नामक अलंकार, अलंकारों के क्रम में परिगणित होता है। केवल प्रकृत या केवल अप्रकृत पदार्थों में एक धर्म के सम्बन्ध का नाम तुल्ययोगिता है। यह धर्म कहीं गुणरूप होता है, कहीं क्रियारूप।[3]

---

1. सा॰ द॰, दशम परि॰, श्लोक 46, पृ॰ 323
2. भेदेप्यभेदः संबंधे संबन्धस्तद्विपर्ययौ।
   पौर्वापर्यात्ययः कार्यहेत्वोः सा पंचधा ततः।।
   सा॰ द॰, दशम परि॰, पृ॰ 323
3. पदार्थानां प्रस्तुतानामन्येषां वा यदा भवेत्।
   एकधर्माभिसंबन्धः स्यात्तदा तुल्ययोगिता।।48।।
   सा॰ द॰, दशम परि॰, श्लोक 47, पृ॰ 327

इस अलंकार के अनेक उदाहरण भोजप्रबन्ध में सुलभ हैं।[1] इसका यह उदाहरण विशेषतः अवलोकनीय है-

नागो भाति मदेन खं जलधरैः पूर्णेन्दुना शर्वरी
शीलेन प्रमदा जवेन तुरगो नित्योत्सवैर्मन्दिरम्।
वाणी व्याकरणेन हंसमिथुनैर्नद्यः सभा पण्डितैः
सत्पुत्रेण कुलं त्वया वसुमती लोकत्रयं भानुना॥
(श्लोक 308)

अर्थात् हे भोज! मद से हाथी शोभित होता है, मेघों से आकाश, पूर्ण-चन्द्र से रात्रि, शील से नारी, वेग से घोड़ा, नित्य उत्सवों से मंदिर, व्याकरण से वाणी, हंसों की जोड़ी से नदी, पण्डितों से सभा, सुपुत्र से कुल तथा आपसे पृथ्वी एवं तीनों लोक सूर्य से (शोभित होते हैं।) यहाँ गजादि अप्रस्तुत पदार्थों में शोभारूपी एक ही गुण का सम्बन्ध बताया गया है। अतः, यह तुल्ययोगिता का उदाहरण सिद्ध हुआ। अपि च,

सर्वदा सर्वदोऽसीति मिथ्या त्वं कथ्यसे बुधैः।
नारयो लेभिरे पृष्ठं न वक्षः परयोषितः॥[2]

अर्थात् हे महाराज! समाज वृथा ही आपको सभी वस्तुओं का देने वाला (दाता) कहता है, क्योंकि शत्रु आपकी पीठ एवं परनारी, आपके वक्षःस्थल को नहीं पा सके हैं। यहाँ पर अप्रकृत शत्रु एवं परनारी में पीठ एवं वक्ष को न पाया जा सकना (न लेभिरे) रूपी एक ही क्रिया का सम्बन्ध है। अतः यह भी तुल्ययोगिता का सुन्दर उदाहरण है।

दीपक

दीपक अलंकार का लक्षण है-

अप्रस्तुतप्रस्तुतयोर्दीपकं तु निगद्यते।
अथ कारकमेकं स्यादनेकासु क्रियासु चेत्॥ 49॥[3]

---

1. द्रष्टव्य-भो॰ प्र॰, श्लोक 65, 66, 82, 90, 308, 313, 316
2. वही श्लोक 313
3. सा॰, दशम परि॰, श्लोक 49, पृ॰ 328

अर्थात् जहाँ अप्रस्तुत और प्रस्तुत पदार्थों में एक धर्म का सम्बन्ध हो अथवा अनेक क्रियाओं का एक ही कारक हो, वहाँ दीपकालंकार होता है। उदाहरण-

न भवति स भवति न चिरं भवति चिरं चेत्फले विसंवादी।
कोपः सत्पुरुषाणां तुल्यः स्नेहेन नीचानाम्।।[1]

सज्जनों को क्रोध एवं दुर्जनों को स्नेह पहले तो उत्पन्न ही नहीं होता, उत्पन्न होता भी है तो दीर्घकाल तक नहीं रहता और यदि दीर्घकाल तक रहता भी है तो फल में ही भिन्न होता है अर्थात् सज्जनों के क्रोध का फल भी हितकारी होता है और दुर्जनों के स्नेह का भी फल अनिष्टकर होता है। यहाँ दुर्जनों के स्नेह एवं सज्जनों के कोप में साम्य (तुल्यः) रूपी समान धर्म होने के कारण दीपक अलंकार है।

दृष्टान्त

दीपक के अनन्तर, आचार्य विश्वनाथ के द्वारा उल्लिखित जिस अलंकार का भोजप्रबन्ध में उल्लेख मिलता है, वह है दृष्टान्त। आचार्य विश्वनाथ के अनुसार, दो वाक्यों में धर्म सहित 'वस्तु' अर्थात् उपमानोपमेय के प्रतिबिम्बन को दृष्टान्त अलंकार कहते हैं।[2] भोजप्रबन्ध में इस अलंकार के भी अनेक उदाहरण मिलते हैं।[3]

यह नीति की सूक्ति कहने वाला उदाहरण देखें-

प्रिय प्रजानां दातैव न पुनर्द्रविणेश्वरः।
अयच्छन्काङ्क्षते लोकैर्वारिदो न तु वारिधिः।।
(श्लोक 64)

अर्थात् जनवर्ग दाता को चाहता है, धनवान् को नहीं (वर्षा का जल) देने वाले मेघों (वारिद) की लोग आकांक्षा करते हैं, जल को संग्रहीत करके रखने वाले समुद्र (वारिधि) की नहीं।

---

1. भो॰ प्र॰, श्लोक 285
2. 'दृष्टान्तस्तु सधर्मस्य वस्तुनः प्रतिबिम्बनम्।।'
   सा॰ द॰, दशम परि॰, श्लोक 51, पृ॰ 329
3. द्रष्टव्य-भो॰ प्र॰, श्लोक 26, 68, 96, 136, 137

दृष्टान्त साधर्म्य एवं वैधर्म्य से दो प्रकार का होता है। उपर्युक्त उदाहरण साधर्म्य का उदाहरण है। यहां यद्यपि इवादि शब्द नहीं है, तथापि दाता के साथ मेघों का तथा धनी (पर अदाता) के साथ समुद्र के गुणों का सादृश्य प्रतीत होता है।

अपि च,

'यस्यास्ति सर्वत्र गतिः स कस्मात्-
स्वदेशरागेण हि याति खेदम्।
तातस्य कूपोऽयमिति ब्रुवाणाः
क्षारं जलं कापुरुषाः पिबन्ति।।'[1]

अर्थात् जिसकी सर्वत्र गति है, वह क्यों अपने देश-प्रेम से क्लेशों को झेले? यह कहते हुए कि 'यह कूप हमारे पिता का है' कापुरुष ही खारे जल को पिया करते हैं। यहाँ ध्यान से देखने पर कापुरुषों द्वारा क्षार जल का पान एवं देशप्रेम के कारण योग्य व्यक्तियों द्वारा क्लेशों को सहन करना, इन दोनों में समता की प्रतीति होती है। यह वैधर्म्य से दृष्टान्त का उदाहरण है।

व्यतिरेक

व्यतिरेक अलंकार का लक्षण है-

'आधिक्यमुपमेयस्योपमानान्न्यूनताथवा।।'[2]

अर्थात् उपमान से उपमेय का आधिक्य अथवा उपमान से उपमेय की न्यूनता का वर्णन करने में व्यतिरेक नामक अलंकार होता है। इसका उदाहरण भी भोजप्रबन्ध में विद्यमान है-

अनेके फणिनः सन्ति भेकभक्षणतत्पराः।
एक एव हि शेषोऽयं धरणीधरणक्षमः।।[3]

---

1. भो॰ प्र॰, श्लोक 135
2. सा॰ द॰, दशम परि॰, श्लोक 52, पृ॰ 333
3. भो॰ प्र॰, श्लोक 300

अर्थात् यों तो मेंढकों को खाने वाले अनेक सर्प हैं, परन्तु पृथिवी को धारण करने में समर्थ केवल शेषनाग ही है।

यहाँ शेषनाग की अन्य साधारण रूपी सर्पों से उत्कृष्टता दिखाई गई है और इसी न्यूनाधिक्य भाव के कारण यहाँ व्यतिरेकालंकार सिद्ध होता है।

अप्रस्तुतप्रशंसा

इसके पश्चात् अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार का स्थान है। इसके भी अनेक उदाहरण श्रीबल्लाल ने भोजप्रबन्ध में स्थान-स्थान पर उद्धृत किए हैं।[1] इसका लक्षण है-

क्वचिद्विशेषः सामान्यात्सामान्यं वा विशेषतः।
कार्यान्निमित्तं कार्यं च हेतोरथ समात्समम्।।
अप्रस्तुतात्प्रस्तुतं चेद् गम्यते पञ्चधा ततः।
अप्रस्तुतप्रशंसा स्याद्।।[2]

अर्थात्-(1) अप्रस्तुत सामान्य से प्रस्तुत विशेष जहाँ व्यंग्य होता हो, अथवा (2) अप्रस्तुत विशेष से प्रस्तुत सामान्य सूचित होता हो, यद्वा (3) अप्रस्तुत कार्य से प्रस्तुत कारण द्योतित होता होता हो, किंवा (4) अप्रस्तुत कारण से प्रस्तुत कार्य व्यंजित हो, (5) अप्रस्तुत समान वस्तु से प्रस्तुत किसी समान वस्तु का व्यंजन होता हो, तो यही पाँच प्रकार की अप्रस्तुतप्रशंसा होती है।

भोजप्रबन्ध में आगत यह पद्य अप्रस्तुतप्रशंसा का अत्यन्त सुन्दर उदाहरण है-

किं कुप्यसि कस्मैचन सौरभचौराय कुप्य निजमधुने।
यस्य कृते शतपत्र प्रतिपत्रं तेऽद्य मृग्यते भ्रमरैः।।[3]

---

1. द्रष्टव्य-भो॰ प्र॰, श्लोक संख्या 14, 65, 67, 69, 100, 134 इत्यादि।
2. सा॰ द॰, दशम परि॰, श्लोक 59, पृ॰ 342-43
3. भो॰ प्र॰, श्लोक 69

अर्थात् हे पद्म! तुम किसी गन्ध के चोर पर इतना रोष क्यों करते हो? अपने मधु पर रोष करो, जिसकी सुरभि के द्वारा (आकृष्ट) भ्रमरों द्वारा आज तुम्हारी प्रत्येक पँखुड़ी खोजी जा रही है।

यह एक कवि की महाराज भोज के प्रति उक्ति है। राजा को दान ग्रहण करने वालों पर क्रोध नहीं करना चाहिए-यह सामान्य यहाँ प्रस्तुत है-परन्तु कमल एवं उसके मधु एवं भ्रमरकुल इत्यादि रूपी विशेष का अभिधान किया गया है। उससे सामान्य व्यंग्य है। अतःयहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार है।

व्याजस्तुति

व्याजस्तुति अलंकार का लक्षण है-

उक्ता व्याजस्तुतिः पुनः।
निन्दास्तुतिभ्यां वाच्याभ्यां गम्यत्वे स्तुतिनिन्दयोः।।[1]

अर्थात् वाच्य निन्दा से स्तुति के व्यंग्य होने पर तथा वाच्य स्तुति से निन्दा के व्यंग्य होने पर व्याजस्तुति अलंकार होता है। इसके उदाहरण, भोजप्रबन्ध में कई हैं।[2] यह पद्य देखें-

'सर्वज्ञ इति लोकोऽयं भवन्तं भाषते मृषा।
परमेकं न जानीषे वक्तुं नास्तीति याचके।।
(श्लोक 312)

अर्थात् हे महाराज! लोक में आपको जनसमाज व्यर्थ ही सर्वज्ञ कहता है क्योंकि याचकों के सम्मुख आप 'नहीं' करना नहीं जानते। यहाँ पहले तो 'नहीं जानने' से सर्वज्ञता का विरोध होने के कारण निन्दा प्रतीत होती है, पर अन्त में वह याचकों के लिए होने से सर्वज्ञता की सिद्धि होती है एवं यह राजा की स्तुति बन जाती है।

---

1. सा॰ द॰, दशम परि॰, पृ॰ 345
2. विशेष द्रष्टव्य-श्लोक सं॰ 72, 312, 313

पर्यायोक्ति

एतत्पश्चात्, अलंकारों के क्रम में पर्यायोक्ति अलंकार की गणना की गई है। इसे पर्यायोक्त भी कहते हैं।[1] इसका लक्षण आचार्य विश्वनाथ के अनुसार है-

पर्यायोक्तं यदा भङ्ग्या गम्यमेवाभिधीयते।[2]

अर्थात् यदि दूसरे रूप में, व्यंग्य बात को ही अभिधा से कह दिया जाए तो पर्यायोक्त अलंकार होता है। यथा-

कंकणं नयनद्वन्द्वे तिलकं करपल्लवे।
अहो भूषणवैचित्र्यं भोजप्रत्यर्थियोषिताम्।।[3]

अर्थात् आश्चर्य है कि राजा भोज के शत्रुओं की स्त्रियों की आँखों में कंकण हैं तथा कोमल हाथों में तिलक है। यहाँ राजा भोज की शूरवीरता तथा उसके शत्रुओं की भारी हार का वर्णन व्यंग्य है। उन रिपुओं की स्त्रियां निरन्तर रोती रहती हैं। अत: बार-बार आंसू पोंछने के कारण उनकी आँखों में कंकण आ गए हैं और भाल-तिलक हाथों में लग गया है। इसी 'कार्य' का वर्णन होने से, उसका कारण (अर्थात् शत्रु-विजय) भी व्यक्त हो ही जाता है। यही यहाँ प्रकृत है।

अर्थान्तरन्यास

एतदनन्तर, अर्थान्तरन्यास अलंकार परिगणित होता है। आचार्य विश्वनाथ के अनुसार, जहाँ विशेष से सामान्य या सामान्य से विशेष अथवा कारण से कार्य या कार्य से कारण, साधर्म्य अथवा वैधर्म्य के द्वारा समर्थित होता हो, उसे अर्थान्तरन्यास अलंकार कहते हैं। यह उक्त रीति से चार साधर्म्य और चार वैधर्म्य के भेद होने से आठ प्रकार का होता है।[4]

---

1. अलंकार कोश : अवस्थी, ब्रह्ममित्र, पृ० 184
2. सा० द० : दशम परि०, श्लोक 61, पृ० 345
3. भो० प्र०, श्लोक 123
4. सामान्यं वा विशेषण विशेषस्तेन वा यदि।
   कार्यं च कारणेनेदं कार्येण च समर्थ्यते।
   साधर्म्येणेतरेणार्थान्तरन्यासोऽष्टधा ततः।। 63 ।।
   सा० द०, दशम परि०, पृ० 346-47

उदाहरण,

ख्यातिं गमयति सुजनः सुकविर्विदधाति केवलं काव्यम्।
पुष्णाति कमलमम्भो लक्ष्म्या तु रविर्नियोजयति।।[1]

अर्थात्, सुजन के द्वारा कवि की प्रसिद्धि होती है और सुकवि केवल काव्य रचना करता है। (यथा) कमल को पानी उत्पन्न करता है, पर सूर्य प्रफुल्लित करता है। विशेष से सामान्य के समर्थन का उदाहरण, यह उपर्युक्त पद्य है। यहां पूर्वार्द्ध का अर्थ सामान्य है। उसका समर्थन उत्तरार्द्ध की विशेष घटना के द्वारा साधर्म्य से किया गया है। अर्थान्तरन्यास अलंकार के अनेक सुन्दर उदाहरण श्रीबल्लाल ने, भोजप्रबन्ध में यत्र-तत्र उदाहृत किए हैं।[2]

काव्यलिंग

अर्थान्तरन्यास के उपरान्त काव्यलिंग अलंकार का स्थान आता है। इसका लक्षण देते हुए आचार्य दर्पणकार लिखते हैं-

'हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिंगं विनिगद्यते।।'[3]

अर्थात् वाक्यार्थ अथवा पदार्थ जहाँ किसी का हेतु हो, वहाँ काव्यलिंग अलंकार होता है।

भोजप्रबन्ध में इसका उदाहरण द्रष्टव्य है-

राजन्कनकधाराभिस्त्वयि सर्वत्र वर्षति।
अभाग्य च्छत्रसंच्छन्ने मयि नायान्ति बिन्दवः।।[4]

अर्थात् हे राजन्! आप द्वारा स्वर्ण की धारा रूप में वर्षा होने पर भी मेरे ऊपर अभाग्य का छत्र होने से एक बूंद भी नहीं पड़ती। यहाँ पूर्वार्द्ध का वाक्यार्थ उत्तरार्द्ध के वाक्यार्थ का हेतु है। इसीलिए यहाँ 'काव्यलिंग' अलंकार है।

1. भो॰ प्र॰, श्लोक 129
2. द्रष्टव्य-वही, श्लोक सं॰ 12, 28, 29, 97, 133, 145, 155 और 279 इत्यादि।
3. सा॰ द॰-दशम परि॰, श्लोक 64, पृ॰ 347
4. भो॰ प्र॰, श्लोक 314

आक्षेप

आक्षेप अलंकार का लक्षण है–

> 'वस्तुनो वक्तुमिष्टस्य विशेषप्रतिपत्तये।
> निषेधाभास आक्षेपो वक्ष्यमाणोक्तगो द्विधा।।[1]

अर्थात् विवक्षित वस्तु की कुछ विशेषता प्रतिपादन करने के लिए निषेध-सा करना आक्षेपालंकार कहलाता है। यह दो प्रकार का होता है-एक तो वक्ष्यमाण वस्तु का निषेध करने पर और दूसरा उक्त वस्तु का निषेध करने पर। इसके भी सुन्दर उदाहरण भोजप्रबन्ध में मिलते हैं–

> चेतोभुवश्चापलताप्रसंगे का वा कथा मानुषलोकभाजाम्।
> यद्दाहशीलस्य पुरां विजेतुस्तथाविधं पौरुषमर्धमासीत्।।[2]

अर्थात् चित की चंचलता के प्रसंग में जबकि कामदेव को भी भस्म करने वाले और त्रिपुर जयी (शिव जी) का पुरुषार्थ भी आधा ही रहा तो मनुष्य लोक में रहने वाले पुरुष के चित्त की क्या बात?

प्रस्तुत पद्य में, सामान्य रूप से सूचित चित्त की चंचलता का वक्ष्यमाण विशेष के रूप में निषेध है। साथ ही यह निषेध का आभास मात्र हैं, वास्तविक निषेध नहीं है।[3]

विशेषोक्ति

इसके अनन्तर, विशेषोक्ति अलंकार का कथन है। इसका लक्षण है–

> सति हेतौ फलाभावे विशेषोक्तिस्तथा द्विधा।[4]

अर्थात् हेतु के रहते हुए भी फल के न होने पर विशेषोक्ति अलंकार होता है। यह निमित्त के उक्त तथा अनुक्त होने से दो प्रकार का होता है। इसका भी एक सुन्दर उदाहरण, भोजप्रबन्ध से ही–

1. सा॰, द॰, दशम परि॰, श्लोक 65, पृ॰ 349
2. भो॰ प्र॰, श्लोक 81
3. विशेष द्रष्टव्य-वही, श्लोक 287
4. सा॰ द॰, दशम परि॰, श्लोक 67, पृ॰ 351

नो चारू चरणौ न चापि चतुरा चञ्चूर्न वाच्यं वचो
नो लीलाचतुरा गतिर्न च शुचिः पक्षग्रहोऽयं तव।
क्रूरक्रेङ्कृतिनिर्भरां गिरमिह स्थाने वृथैवोद्गिरन्
मूर्ख ध्वाङ्क्ष न लज्जसेऽप्यसदृशं पाण्डित्यमुन्नाटयन्॥[1]

अर्थात् ओ कौए। तुम्हारे न तो सुन्दर चरण हैं, न तो भली चोंच है, न चातुर्यपूर्ण बोली है, न मनोहर लीला है, न ललित गति (चाल) है, न तुम्हारे पंख शोभावान् हैं, तिस पर भी तुम वृथा कां-कां शब्द कर रहे हो। क्या मूर्ख की भाँति पांडित्य दिखाते हुए तुम्हें लज्जा नहीं आती?

विषम

इसके पश्चात्, अलंकारों के क्रम में विश्वनाथाचार्य ने विषमालंकार की गणना की है। इसका लक्षण है-

गुणां क्रिये वा चेत्स्यातां विरुद्धे हेतुकार्ययोः।
यदारब्धस्य वैफल्यमनर्थस्य च संभवः॥
विरूपयोः संघटना या च तद्विषमं मतत्॥[2]

इसका उदाहरण भोजप्रबन्ध में देखें-

प्राप्य प्रमाणपदवीं को नामऽस्ते तुलेऽवलेपस्ते।
नयसि गरिष्ठमधस्तात्तदितस्मुच्चैस्तरां कुरुषे॥[3]

अर्थात् हे तुला। तुम तो प्रमाणपद के लिए बनी हो (अर्थात् जो जैसा है, वैसा बताने वाली हो) परंतु, प्रमाणपद के मद से तुम हल्के को ऊपर और भारी (श्रेष्ठ) को नीचे करती हो।

लोक में प्रायः देखा गया है कि श्रेष्ठ लोग ऊपर उठते हैं एवं तद्विपरीत नीचे होते हैं। पर प्रमाण पद के लिए बनी तराजू हल्के को ऊपर एवं भारी को नीचे करती है। यहाँ कार्य (प्रमाण पद) एवं कारण (तुला) के गुण परस्पर विरुद्ध होने से विषमालंकार है।

1. भो॰ प्र॰, श्लोक 268
2. सा॰ द॰, दशम परि॰, श्लोक 69-70, पृ॰ 353
3. भो॰ प्र॰, श्लोक 134

यथासंख्य

इसके उपरान्त, यथासंख्य अलंकार का स्थान आता है। इसका लक्षण है-

'यथासंख्यमनुद्देश उद्दिष्टानां क्रमेण यत्।'[1]

अर्थात् उद्दिष्ट (कहे हुए पदार्थों) का यदि फिर इसी क्रम से कथन हो तो यथासंख्य अलंकार होता है। उदाहरण-

'कृतो यैर्न च वाग्मी च व्यसनी तन्न यैः पदम्।
यैरात्मसदृशो नार्थी किं तैः काव्यैबलैर्धनैः॥[2]

अर्थात् उस काव्य, बल तथा धन से क्या जिसने मूर्खों को पंडित, व्यसनी को अभिलषित वस्तु या स्थान को अपने अधीनस्थ, तथा याचक को धनी न बनाया (वह सर्वथा निरर्थक है)।

यहाँ वाग्मी, व्यसन तथा पदं आदि क्रमानुसार निर्दिष्ट पदार्थों के साथ 'काव्यं' 'बलै' 'धनै' आदि का उसी क्रम से समन्वय है। अतः यहाँ यथासंख्य अलंकार सिद्ध होता है।

तद्गुण

इसके बाद, तद्गुण अलंकार का उदाहरण भोजप्रबन्ध में मिलता है। इसका लक्षण है-

'तद्गुणः स्वगुणत्यागादत्युत्कृष्टगुणग्रहः।'[3]

अर्थात् अपने गुणों को छोड़कर अत्यन्त उत्कृष्ट के गुणों को ग्रहण करने पर तद्गुणालंकार होता है। उदाहरण-

'महाराज श्रीमञ्जगति यशसा ते धवलिते
पयः पारावारं परमपुरुषोऽयं मृगयते।

---

1. सा॰ द॰, दशम परि॰, श्लोक 79, पृ॰ 356
2. भो॰ प्र॰, श्लोक 104
3. सा॰ द॰, दशम परि॰, श्लोक 90, पृ॰ 363

कपर्दी कैलासं करिवरमभौमं कुलिशभृ-
त्कलानाथं राहुः कमलभवनो हंसमधुना॥[1]

अर्थात्, हे महाराज। आपकी कीर्ति से जगत धवल हो गया है। अतः परमपुरुष विष्णु क्षीरसमुद्र को, शिव कैलाश को, इन्द्र ऐरावत को, राहु चन्द्र को तथा ब्रह्म हंस को खोज रहे हैं।

यहाँ कीर्ति ने धवलता का इतना अभिप्राय प्राप्त कर लिया है कि वह विशेष हो गई है। इसीलिए तद्गुण अलंकार का यह उदाहरण ब़ना।[2]

ये सब वे अलंकार हैं, जो कि प्रमुखरूपेण एवं स्पष्टतया प्रतीत होते हैं। इनके इस विस्तार से श्रीबल्लाल कवि की विद्वत्ता एवं उक्ति-वैचित्र्य तथा विषय् वैविध्य का ज्ञान होता है।

भोजप्रबन्ध : रस

भारतीय सौन्दर्य-दर्शन का मूलाधार काव्यशास्त्र है और हमारे समृद्ध काव्यशास्त्र की चिन्तन-प्रणाली तथा विवेचन-दृष्टि, अति प्राचीन काल से ही मानव-मन की सूक्ष्म विज्ञात्री रही है। आधुनिक मनोविज्ञान सौन्दर्य-चेतना को एक मिश्रवृति मानते हुए, इसके योजक तत्त्वों के रूप में प्रीति एवं विस्मय का परिगणन करता है[3] भारतीय काव्यशास्त्र प्रारम्भ से ही इस रहस्य से भलीभांति अवगत था, जिसका प्रमाण है इसके दो प्रतिनिधि सिद्धान्त-रस और अलंकार; जो क्रमशः प्रीति एवं विस्मय के ही शास्त्रीय विकास हैं। सौन्दर्य के आस्वाद में निहित प्रीति-तत्त्व का प्राधान्य रस-सिद्धान्त में प्रस्फुटित एवं विकसित हुआ और दूसरी ओर विस्मय-तत्त्व के प्रामुख्य ने वक्रता, अतिशय आदि के माध्यम से अलंकारवाद का रूप धारण कर लिया।[4] अलंकारों का विस्तृत वर्गीकरण एवं विवेचन पूर्वपृष्ठों में किया गया है। अब काव्य में प्रमुख तत्त्व 'रस' की चर्चा की जा रही है।

1. भो॰ प्र॰, श्लोक 82
2. अपि द्रष्टव्य-वही, श्लोक 76
3. डा॰ नगेन्द्र : रस-सिद्धान्त, प्रथम अध्याय, पृ॰ 3
4. डा॰ नगेन्द्र : रस-सिद्धान्त, प्रथम अध्याय, पृ॰ 3

'न हि रसाद् ऋते कश्चिदर्थः प्रवर्तते।"[1]

भारतीय वाङ्मय के प्रथम काव्यशास्त्रीय ग्रंथ **नाट्यशास्त्र** में महामुनि **भरत** की यह उद्घोषणा कि 'रस के बिना कोई अर्थ प्रवृत्त नहीं हो सकता', काव्य में रस के महत्त्व को प्रतिपादित करती है। यह रस क्या है?

वैदिक काल में यह मात्र भौतिक अर्थ अर्थात् 'सार' तक ही सीमित था-

यो नो रसं दिप्सति पित्वो अग्ने यो
अश्वानां यो गवां यस्तनूनाम्। (ऋ॰ 7.104.10)

अर्थात् हे अग्नि! जो हमारे अन्न का सार विनष्ट करने की इच्छा करता है, और जो अश्वों, गायों और सन्तानों का सार नष्ट करने की इच्छा करता है। इत्यादि।

पर उपनिषद्-काल में रस, भौतिक अर्थ की परिधि को लांघ कर आध्यात्मिक अर्थ की सीमा में प्रवेश करता है।

रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽनन्दी भवति। (तैत्ति॰उप॰2.7)

अर्थात् वह (ब्रह्म) रस-रूप ही है। उसको पाकर मनुष्य (जीव) आनन्दमय हो जाता है।

इसके पश्चात्, सूत्रकाल में, **वात्स्यायन कामसूत्र** (ई॰ पू॰ चौथी शती) में रस शब्द रति, काम-शक्ति आदि अर्थ में प्रयुक्त हुआ।

रसो रतिः प्रीतिर्भावो रागोवेगः समाप्तिरिति
रतिपर्यायः। (का॰ सू॰ 2.1.65)

इसी में, एक स्थान पर शास्त्रीय अर्थ में भी रस का प्रयोग है।

तदिष्टभावलीलानुवर्तनम्। (का॰ सू॰ 6.2.35)

इस पर जयामंगला टीका है-नायकस्य श्रृंगारादिषु य इष्टो रसो

1. भरतमुनि, नाट्यशास्त्र, (6:31)

भावः स्थायिसंचारिसात्विकेषु, लीला तानि चेष्टानि तेषामनुवर्तनम्।'

इसकी प्रामाणिकता संदिग्ध होने पर भी, यह कहा जा सकता है कि भरतमुनि से पूर्व रस-शास्त्र की परम्परा का निर्माण प्रारम्भ हो चुका था।[1]

भरतमुनि ने रस को इस प्रकार से कहा है-

'तत्र विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।'[2]

इस सूत्र में मूलतः रस-निष्पति का आख्यान है, स्वरूप का नहीं। पर रस के स्वरूप का विवेचन भी इसी में निहित है और आगे चलकर इसी के आधार पर उसका पल्लवन हुआ है। इसकी अब तक की विविध व्याख्याओं का सार यह है कि विविध भावों अर्थात् विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव से संयुक्त तथा त्रिविध (कायिक, आंगिक एवं वाचिक) अभिनयों द्वारा व्यंजित स्थायी भाव ही रस (या नाट्य रस) में परिणत हो जाता है।[3]

इसी प्रकार, इसके स्वरूप के विषय में आचार्य अभिनवगुप्त के मत का सार कुछ इस प्रकार है–

लोक में रत्यादि भावों के जो कारण, द्योतक एवं पोषक होते हैं, वे ही काव्यादि में विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी भाव के नामों से अभिहित होते हैं। काव्यनिबद्ध होने पर इनका लौकिक रूप नष्ट हो जाता है और ये एक प्रकार का अलौकिक रूप धर लेते हैं। सहृदय द्वारा इन अलौकिक विभावादि के समवेत रूप का प्रत्यक्ष या मानस–साक्षात्कार या चर्वण ही 'रस' है।

यह रस चर्वण (आस्वाद) से अभिन्न होता है-अर्थात् रस आस्वाद रूप ही होता है, आस्वाद्य रूप या आस्वाद-विषय नहीं। इस प्रकार, स्थायी भाव रस नहीं है।

---

1. डा॰ नगेन्द्र : रस-सिद्धान्त, अध्याय 1, पृ॰ 9
2. शास्त्री, मधुसूदन : भरतमुनि : नाट्यशास्त्रम्, षष्ठोऽध्याय, पृ॰ 620 (का॰ 31)
3. वही, पृ॰ 80

अलौकिक विषय का आस्वाद होने के कारण रस स्वयं भी अलौकिक (अर्थात् स्मृति, अनुमान, प्रत्यक्षानुभवादि से भिन्न) है। यह न कार्य है, न ज्ञाप्य है, न सविकल्पक ज्ञान है, न निर्विकल्पक।

और चर्वणा की स्थिति में, प्रमाता का चित्त देश-काल, स्व, पर, तटस्थ, आदि की सीमाओं से मुक्त, एकतान एवं आत्मविश्रांति रूप हो जाता है अर्थात् रस अनिवार्यतः आत्मविश्रान्तिमयी आनन्द-चेतना है।[1]

रस कितने हैं-इस सम्बन्ध में भी काव्यशास्त्र में मतभेद रहा है। भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में आठ रस माने हैं-

शृंगारहास्यकरुण रौद्रवीरभयानकाः।
बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः॥

कालान्तर में 'शान्त' को भी मिलाकर नव रस माने गए हैं।[2]

रस का एक उदाहरण अप्रासंगिक न होगा। इसके द्वारा यह दिखाया जा रहा है कि किस प्रकार स्थायी भाव विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों से पुष्ट होकर 'रसत्व' की प्राप्ति करता है।

घटना- शकुन्तला एवं दुष्यन्त का, कण्व ऋषि के आश्रम में (नदी तीर पर) परस्पर मिलन।

यहाँ शकुन्तला एवं दुष्यन्त परस्पर आलम्बन आश्रय हैं। कण्व-आश्रम की प्राकृतिक छटा, वातावरण की एकान्तता आदि (बाह्य उद्दीपन) तथा शकुन्तला की लजाना, ठिठकना आदि चेष्टाएँ (आंतरिक) उद्दीपन हैं, जो दुष्यन्त (आश्रय) के जाग्रत प्रेम भाव को उद्दीप्त करती है। पाठक के जाग्रत स्थायी भाव भी उद्दीप्त होते हैं।

दुष्यन्त का, देखना, रुकना, आगे बढ़ना, आलिंगनादि (शारीरिक अनुभाव), प्रेम याचना (वाचिक) एवं रोमांच (सात्त्विक) आदि, अनुभाव के रूप में प्रकट हो कर प्रेम भाव को और भी पुष्ट करते हैं तथा इसी

---

1. वही, पृ॰ 81
2. आचार्य उद्भट के 'काव्यालंकारसंग्रह' में सर्वप्रथम शान्त-रहित नवरस का उल्लेख मिलता है। शास्त्री, मधुसूदन : अध्याय 4, पृ॰ 238

प्रकार हर्ष, आशा आदि संचारी भाव रसानुभूति को उद्दीप्त करते हैं। इस प्रकार, विभावादि के योग से पाठक का स्थायी भाव रति, जाग्रत और पुष्ट होकर, उसे शृंगार रस की अनुभूति कराता है।[1]

उपर्युक्त उदाहरण यह स्पष्ट करता है कि किस प्रकार विभावादि से पुष्ट होकर स्थायी भाव 'रस' में परिणत हो जाता है। वस्तुतः, हमारे प्राचीन आचार्यों ने काव्य-मनोविज्ञान के आधार पर स्थायी, संचारी भावों आदि का वर्गीकरण किया है (अर्थात् काव्य में ज्निन भावों की अनुभूति उन्हें व्यापक, विस्तृत, प्रबल, उदात्त एवं प्रमुख रूप में सम्भव प्रतीत हुई, उन्हें स्थायी भाव माना और शेष को संचारी)।[2]

अब भोजप्रबन्ध में आगत विभिन्न रसों का परिचय दिया जा रहा है। भोजप्रबन्ध में शृंगार, करुण, वीर, अद्भुत तथा शान्त रस मुख्यतः प्राप्त होते हैं। एक-दो स्थलों पर हास्य भी प्रस्फुटित है। इसमें वीभत्स, भयानक एवं रौद्र रसों का सर्वथा अभाव है। क्रमानुसार उदाहरण द्रष्टव्य हैं।

शृङ्गार रस

रति या काम, केवल मनुष्य ही नहीं अपितु सभी जातियों में मुख्य प्रवृत्ति के रूप में पाया जाता है। अतः सर्वप्रथम शृंगार रस का कथन प्रायः सभी काव्य-शास्त्रीय ग्रंथों में किया गया है।[3] साहित्यदर्पण के अनुसार, इसका लक्षण है-

शृंग हि मन्मथोद्भेदस्तदागमनहेतुकः।
उत्तमप्रकृतिप्रायो रसः शृंगार इष्यते।।[4]

अर्थात् कामदेव के उद्भेद (अंकुरित होने) को शृंग कहते हैं, उसकी उत्पत्ति का कारण, अधिकांश उत्तम प्रकृति से युक्त रस शृंगार कहलाता है। परस्त्री तथा अनुरागशून्य वेश्या को छोड़ अन्य नायिकाएं

1. झारी, कृष्णदेव : भारतीय काव्य सिद्धान्त, रस, पृ॰ 39
2. वही, पृ॰ 27
3. द्रष्टव्य-नाट्यशास्त्र (6.15); सा॰ दर्पण (3.182); का॰ प्रकाश (4.29)।
4. सा॰ द॰ तृतीय अध्याय, का॰ 183

तथा दक्षिण आदि नायक इस रस के आलम्बन विभाव माने जाते हैं। चन्द्रमा, चंदन, भ्रमरादि इसके उद्दीपन विभाव होते हैं। उग्रता, मरण, आलस्य एवं जुगुप्सा को छोड़कर अन्य निर्वेदादि इसके संचारी भाव होते हैं। इसका स्थायी भाव 'रति' है; वर्ण श्याम तथा श्रीविष्णु इसके देवता हैं।[1]

इस रस का भोजप्रबन्ध में आगत एक सुन्दर एवं सरस उदाहरण देखें-

खिन्नं मण्डलमैन्दवं विलुलितं स्रग्भारनद्धं तमः
प्रागेव प्रथमानकैतकशिखालीलायितं सुस्मितम्।
शान्तं कुण्डलताण्डवं कुवलयद्वन्द्वं तिरोमीलितं
वीतं विद्रुमसीत्कृतं नहि ततो जाने किमासीदिति।।[2]

चन्द्रबिम्ब (मुखमण्डल) पर पसीना आ गया, उसके पूर्व ही ग्रथित (घना) तम (बाल) खुल गए। मधुर हास से पूर्व ही केतकाग्र-लीला कुण्डलों का हिलना बन्द हो गया। कमलद्वन्द्व (नेत्र) बन्द हो गए। विद्रुम (ओष्ठ) का सीत्कार थम गया। तत्पश्चात्, न जाने क्या हुआ।

यह पद्य रत्यान्त का वर्णन है। श्लिष्ट पदावली प्रयुक्त है। अनुमित नायिका यहाँ आलम्बन विभाव है। तम, इन्दुमण्डल तथा कुवलयद्वन्द्वादि उद्दीपन हैं। स्वेद तथा स्तम्भ अनुभाव हैं तथा मधुर, हासादि व्यभिचारी भाव हैं जो रति नामक स्थायी भाव को पुष्ट कर, उसे शृंगार रस के रूप में अभिव्यंजित करते हैं।

अपि च,

अपांगपातैरपदेशपूर्वैरेणीदृशामेकशिलानगर्याम्।
वीथीषु वीथीषु विनापराधं पदे पदे शृंखलिता युवानः।।[3]

अर्थात् एकशिला नगरी में, गली-गली में तथा पग-पग पर युवकजन बिना अपराध के ही मृगनयनियों के कटाक्षों से लक्ष्यपूर्वक

1. सा॰ द॰, पृ॰ 106
2. भो॰ प्र॰, श्लोक 252
3. वही, श्लोक 277

ताड़ित होकर श्रृंखलित हो गए हैं।

यहाँ पर, युवकजन आलम्बन विभाव हैं, एकशिला नगरी का अनुमित प्राकृतिक सौन्दर्य उद्दीपन विभाव है, युवतियों का कटाक्ष-निक्षेप अनुभाव है और श्रृंखलित युवकों की (अनुमित) जड़ता व्यभिचारी भाव हैं। ये सब रति भाव से मिलकर श्रृंगार की निष्पत्ति करते हैं।

इसी ग्रन्थ का यह उदाहरण भी विशेष अवलोकनीय है-

अरुणकिरणजालैरन्तरिक्षे गतर्क्षे
चलति शिशिरवाते मन्दमन्दं प्रभाते।
युवतिजनकदम्बे नाथमुक्तौष्ठबिम्बे
चरमगिरिनितम्बे चन्द्रबिम्बं ललम्बे।।[1]

अर्थात् सूर्य किरणों के जाल से आकाश में, नक्षत्रों के दूर होने पर, प्रभात की मन्दानिल बहने पर, रमणियों के रमणों द्वारा अधरोष्ठ बिम्ब के त्यागने पर, अस्ताचल के मध्यभाग में चन्द्रमण्डल लम्बित हुआ।

इस पद्य में, रमणियां आलम्बन है; चन्द्र, प्रभात, मन्दानिल इत्यादि उद्दीपन विभाव हैं, चुम्बन अनुभाव हैं, अनुमित लज्जा एवं हर्षादि व्यभिचारी भाव हैं, जिनसे परिवर्तित रति श्रृंगार रूप में निष्पन्न होता है।

हास्य रस

इसके पश्चात्, हास्य रस का स्थान है। भोजप्रबन्ध में इसका अधिक प्रयोग नहीं और केवल एक ही स्थान पर यह पूर्णतया प्रस्फुटित होता प्रतीत होता है। इसका लक्षण है-

विकृताकारवाग्वेषचेष्टादेः कुहकाद्भवेत्।
हास्यो हासस्थायिभावः श्वेतः प्रमथदैवतः।।[2]

अर्थात् विकृत आकार, वाणी, वेष तथा चेष्टा आदि से हास्य

---

1. वही, श्लोक 320
2. सा० द०, तृतीयोऽध्यायः, का० 214, पृ० 115

रस का आविर्भाव होता है। इसका स्थायी भाव 'हास' है। वर्ण शुक्ल एवं देवता प्रमथ (शिवगण) हैं। जिसकी विकृत वाण्यादि को देख लोग हंसें, वह आलम्बन तथा उसकी चेष्टाएं उद्दीपन विभाव होते हैं। नयन-मुकुलन एवं वदन-विकसन इसके अनुभाव तथा निद्रा, आलस्य एवं अवहित्था आदि व्यभिचारी भाव होते हैं।[1]

भोजप्रबन्ध में इस रस का यह उदाहरण प्राप्त होता है।

'ततो विद्वान् काष्ठं भूमौ निक्षिप्य कोशाधिकरणं गत्वा प्राह-महाराजेन प्रेषितोऽहम्। लक्षं मे दीयताम्।' ततः स हसन्नाह-'विप्र, भवन्मूर्तिर्लक्षं नार्हति।' ततो विषादी स राजानमेत्याह-'स पुनर्हसति देव नार्पयति।' राजा कुतूहलादाह-'लक्षद्वयं प्रार्थय। दास्यति।' पुनरागत्य विप्रः-'लक्षद्वयं देयमिति राज्ञोक्तम्' इत्याह। स पुनर्हसति। विप्रः पुनरपि भोजं प्राप्याह-'स पापिष्ठो मां हसति नार्पयति।' ततः कौतूहली लीलानिधिर्महीं शासञ्श्री भोजराजः प्राह-'विप्र, लक्षत्रयं याचस्व। अवश्यं स दास्यति।' स पुनरेत्य प्राह-'राजा मे लक्षत्रयं दापयति।' स पुनर्हसति।[2]

उपर्युक्त गद्यांश में विप्र आलम्बन, उसकी बार-बार कोशाधिकारी के पास आवागमनादि चेष्टाएं उद्दीपन, वदन-विकसनादि अनुभाव तथा अवहित्था (बात बनाना) व्यभिचारी भाव, ये सब हास नामक स्थायी भाव से मिलकर हास्य रस की अभिव्यंजना करते हैं।

करुण रस

इसके पश्चात् करुण रस का स्थान है। इसका लक्षण है-

इष्टनाशादनिष्टाप्तेः करुणाख्यो रसो भवेत्।
धीरैः कपोतवर्णो यं कथितो यमदैवतः॥[3]

इष्ट के नाश और अनिष्ट की प्राप्ति के करुण रस आविर्भूत होता है। यह कपोतवर्ण होता है एवं इसके देवता यम होते हैं। इसमें

1. वही
2. भो॰ प्र॰, पृ. 150 (अग्रे द्रष्टव्य)
3. सा॰ द॰ तृ॰ परि॰, का॰ 222, पृ॰ 116

स्थायी भाव शोक होता है और विनष्ट बन्धु आदि शोचनीय व्यक्ति आलम्बन तथा उसका दाह-कर्मादिक उद्दीपन होता है। प्रारब्ध-निन्दा, भूमिपतन, रोदन, वैवर्ण्य, उच्छ्वास, निःश्वास, स्तम्भ एवं प्रलाप इसके अनुभाव तथा निर्वेद, मोह, अपस्मार, व्याधि, ग्लानि, स्मृति, श्रम, विषाद, जडता, उन्माद तथा चिंता आदि व्यभिचारी भाव होते हैं।[1]

भोजप्रबन्ध में इस रस का सुन्दर परिपाक अनेक स्थलों पर मिलता है।

ततः सावित्रीसंज्ञा भोजस्य जननी विश्वजननीव स्थिता दासीमुखात्स्वपुत्रस्थितिमाकर्ण्य कराभ्यां नेत्रे पिधाय रुदती प्राह-पुत्र, पितृव्येन कां दशां गमितोऽसि। ये मया नियमा उपवासाश्च त्वत्कृते कृताः, तेऽद्य मे विफला जाताः। दशापि दिशामुखानि शून्यानि। पुत्र, देवेन सर्वज्ञेन सर्वशक्तिनाऽऽमृष्टाः श्रियः। पुत्र, एनं दासीवर्गं सहसा विच्छिन्नशिरसं पश्यं इत्युक्त्वा भूमावपतत्।[2]

उपर्युक्त गद्यांश में भोज की माता सावित्री का भोज की भुंज द्वारा हत्या किए जाने के समाचार को प्राप्त करने की दशा का वर्णन है। इसमें विनष्ट भोजकुमार आलम्बन, उसका अनुमित अन्त उद्दीपन, प्रारब्ध-निन्दा, प्रलाप एवं भूमिपतन आदि अनुभाव तथा निर्वेद, मोह, स्मृति एवं विषाद आदि व्यभिचारी भाव हैं।

अपि च,

वृद्धो मत्पतिरेष मञ्चकगतः स्थूणावशेषं गृहं
कालोऽयं जलदागमः कुशलिनी वत्सस्य वार्तापि नो।
यत्नात्सञ्चिततैलबिन्दुघटिका भग्नेति पर्याकुला
दृष्ट्वा गर्भभरालसां निजवधूं श्वश्रूश्चिरं रोदिति॥[3]

अर्थात् मेरे ये वृद्ध पति खटिया पर पड़े हैं, मकान भी स्तम्भ-मात्र अवशिष्ट रह गया है, यह वर्षा का समय है और पुत्र की

---

1. वही
2. भो॰ प्र॰, पृ. 110 (अग्रे द्रष्टव्य)
3. भो॰ प्र॰, श्लोक 255

कुशलता का समाचार भी नहीं आया। यत्न से रखा हुआ तेल का पात्र भी फूट गया, ऐसी दशा देख कर तथा अपनी पुत्रवधू को आसन्न-प्रसवा देख गृह-स्वामिनी अत्यन्त विलाप कर रही है।

इस पद्य में, घर का दारिद्र्य आलम्बन तथा उस दारिद्र्य की अतिशयिता (स्थूणावशेषत्व, तेल का पात्र भग्न होना इत्यादि) उद्दीपन, गृहस्वामिनी का प्रलाप रूपी अनुभाव तथा दैन्य, और चिन्ता आदि व्यभिचारी भाव, शोक स्थायी भाव से मिलकर, उसे पुष्ट कर, करुण रस की मार्मिक अभिव्यंजना कर रहे हैं।

वीर रस

इसके पश्चात् रसों की क्रम-गणना में वीर रस का स्थान है। इसका लक्षण है-

उत्तम प्रकृतिवीर उत्साहस्थायिभावकः।
महेन्द्रदैवतो हेमवर्णो यं समुदाहृतः।।[1]

उत्तम पात्र (रामादि नायक) में आश्रित वीररस होता है। इसका स्थायी भाव उत्साह, देवता महेन्द्र तथा रंग सुवर्ण-सदृश होता है। इसमें जीतने योग्य (रावणादि) (पात्र) आलम्बन विभाव तथा उनकी चेष्टाएं उद्दीपन विभाव होते हैं। युद्ध के सहायक (धनुष या सैन्यादि का अन्वेषणादि) इसका अनुभव तथा धैर्य, मति, गर्व, स्मृति, तर्क, रोमांचादि इसके व्यभिचारी भाव होते हैं।[2]

भोजप्रबन्ध में इस रस के उदाहरण देखिए-

'पन्थाः संहर दीर्घतां त्यज निजं तेजः कठोरं रवे
श्रीमन्विन्ध्यगिरे प्रसीद सदयं सद्यः समीपे भव।
इत्थं दूरपलायनश्रमवतीं दृष्ट्वा निजप्रेयसीं
श्रीमन्भोज तव द्विषः प्रतिदिनं जल्पन्ति मूर्च्छन्ति च।।'[3]

---

1. सा० द०, तृतीय परि०, का० 232, पृ० 117-18
2. वही।
3. भो० प्र०, श्लोक 172

'हे पथ। तुम दीर्घता को त्याग दो। हे सूर्य! अपनी तीक्ष्ण किरणें रोक लीजिए। हे श्रीमान् विन्ध्यगिरि। कृपया शीघ्र निकट आ जाइये। इस प्रकार हे भोज! दूर भागने से परिश्रान्त और अपनी प्रेयसियों को देख, आपके वैरीगण ऐसा प्रलाप करते हैं और मूर्च्छित हो जाते हैं।

प्रस्तुत पद्य में, भोजराज के शत्रुगण आलम्बन, उनका भोजराज के भय से अतिशय आक्रान्त होना उद्दीपन, उनका नित्य मूर्च्छित होना अनुभाव एवं स्मृति (भोज के पराक्रम की) तथा भोज का अनुमित गर्वादि व्यभिचारी भाव (भोज के) उत्साह के साथ मिलकर वीर रस को पुष्ट करते हैं।

अपि च,

'छन्नं सैन्यरजोभरेण भवतः श्रीभोजदेव क्षमा-
रक्षादक्षिण दक्षिणक्षितिपतिः प्रेक्ष्यान्तरिक्षं क्षणात्।
निःशंको निरपत्रपो निरनुगो निर्बान्धवो निःसुहृ-
न्निस्त्रीको निरपत्यको निरनुजो निर्हाटको निर्गतः॥'[1]

अर्थात् हे क्षमा तथा रक्षा में निपुण श्री भोज! आपकी सेना की धूलि से आच्छन्न गगन को देख, दक्षिण देशाधिप, भय एवं लज्जा से रहित, सेवक, बान्धवों तथा मित्रों से रहित एवं स्त्री, पुत्रों, अनुज एवं धन से भी हीन होकर भाग गया।

इस पद्य में, भोज का रिपु दक्षिणाधिप नृप आलम्बन, उसका भोज-भय से पलायन उद्दीपन, भोज की सेना की धूलि से अनुमित पराक्रम अनुभाव तथा भोज का गर्व, आदि व्यभिचारी भाव हैं। ये सब भोज के उत्साह को पुष्टि प्रदान करते हुए वीर रस की अभिव्यंजना करते हैं।

अद्भुत रस

एतदनन्तर, अद्भुत रस का स्थान है। कथाकाव्यों में प्रायशः इसी रस का बाहुल्य होता है। भोजप्रबन्ध में भी इसका प्राचुर्य है। इसका लक्षण-

1. भो० प्र०, श्लोक 266

'अद्भुतो विस्मयस्थायिभावो गन्धर्वदैवतः।
पीतवर्णो वस्तु लोकातिगमालम्बनं मतम्।"[1]

अर्थात् अद्भुत रस का स्थायी भाव विस्मय है, देवता गन्धर्व और रंग पीत है। अलौकिक वस्तु इसका आलंबन एवं उसके गुणों का वर्णन उद्दीपन होता है। स्तंभ, स्वेद, रोमांच, गद्गद् स्वर, संभ्रम और नेत्रविकासादि अनुभाव तथा वितर्क, आवेग, भ्रांति, हर्षादि व्यभिचारी भाव होते हैं।[2]

इसका उदाहरण देखें-

यथा यथा भोजयशो विवर्धते
सितां त्रिलोकीमिव कर्तुमुद्यतम् ।
तथा तथा मे हृदयं विदूयते-
प्रियालकालीधवलत्वशङ्कया।।[3]

अर्थात् भोजराज की धवलकीर्ति ज्यों-ज्यों बढ़ती है तथा तीनों लोकों को शुभ्र करने को उद्यत होती है, त्यों-त्यों यह सोचकर कि कहीं मेरी स्त्री के केश धवल न हो जाएं, मेरे हृदय में पीड़ा होती है।

इस पद्य में कवि का विस्मय स्थायी भाव है। भोजराज का यश आलम्बन है तथा उसकी अतिशय व्यापकता उद्दीपन है। इस प्रकार की महिमा का वर्णन अनुभाव हैं और इस वर्णन से उत्पन्न हर्ष एवं भ्रांति आदि व्यभिचारी भाव हैं। इन सब के द्वारा अद्भुत रस निष्पन्न होता है।

अपि च,

धाराधीश धरामहेन्द्रगणनाकौतूहली यामयं
वेधास्त्वद्गणने चकार खटिकाखण्डेन रेखां दिवि।
सैवेयं त्रिदशापगा समभवत्त्वतुल्यभूमीधरा-
भावात्तु त्यजति स्म सोऽयमवनीपीठे तुषाराचलः।।[4]

1. सा॰ द॰, तृतीय परि॰, का॰ 242-43, पृ॰ 120
2. वही
3. भो॰ प्र॰, श्लोक 76
4. वही, श्लोक 202

अर्थात् हे धारेन्द्र! ब्रह्मा ने भूतल के प्रतापी राजाओं की गणना करने के लिए कौतूहलवश, खड़िया से आकाश में आपके नाम की जो रेखा खींची, वही यह आकाशगंगा है। फिर भूतल पर आपके सदृश किसी अन्य को न देखकर, उन्होंने वह मिट्टी का टुकड़ा भूतल पर फेंका, वही यह हिमालय है।

इस पद्य में भी कवि का विस्मय स्थायीभाव है। भोज की कीर्ति एवं प्रताप आलम्बन तथा इन गुणों की अतिशयता उद्दीपन है। इस माहात्म्य का वर्णन अनुभाव तथा इससे उत्पन्न हर्ष एवं भ्रांति आदि व्यभिचारी भाव हैं।

शान्त रस

इसके बाद शान्त रस का स्थान है। इसका लक्षण है-

शान्तः शमस्थायिभाव उत्तमप्रकृतिर्मतः।
कुन्देन्दुसुन्दरच्छायः श्रीनारायणदैवतः।।[1]

अर्थात् शान्त रस का स्थायी भाव शम, आश्रय उत्तम पात्र, वर्ण कुन्दपुष्प तथा चन्द्रमा के समान सुन्दर, शुक्ल तथा श्रीलक्ष्मीनारायण देवता हैं। अनित्यत्व, दुःखमयत्व आदि रूप से संपूर्ण संसार की असारता का ज्ञान या परमात्मा का स्वरूप आलंबन तथा ऋषि-आश्रम, तीर्थ, वन तथा सत्संगादि उद्दीपन विभाव होते हैं। रोमांचादि अनुभाव तथा निर्वेद, हर्ष, स्मरण, मति, दया आदि संचारी भाव होते हैं।[2]

भोजप्रबन्ध में आगत इस रस का यह उदाहरण द्रष्टव्य है-

सारंगाः सुहृदो गृहं गिरिगुहा शान्तिः प्रिया गेहिनी
वृत्तिर्वन्यलताफलैर्निवसनं श्रेष्ठं तरूणां त्वचः।
तद्ध्यानामृतपूरमग्नमनसां येषामियं निर्वृत्तिं-
स्तेषामिन्दुकलावतंसयमिनां मोक्षेऽपि नो न स्पृहा।।[3]

---

1. सा० द०, तृतीय परि०, का० 245-46, पृ० 121
2. वही।
3. भो० प्र०, श्लोक 273

अर्थात् हे भोज! हिरणादि मेरे सुहृद् हैं, पहाड़ की गुफा मेरी कुटिया, शान्ति मेरी अर्द्धांगिनी है, अग्नि, फल तथा लतादि मेरा आहार हैं, उत्तम वृक्षों की छालें वस्त्र हैं। ऐसी वृत्ति वाले संयमियों को, केवल इन्दुमौलि शिवजी के व्रतों की ही अभिलाषा होती है, मोक्ष तक की नहीं।

उपर्युक्त पद्य में, उक्त योगी आश्रय है, उसको (तपादि से प्राप्त) हुआ संसार के अनित्यत्व का ज्ञान आलम्बन, आश्रमादि उद्दीपन विभाव, अनुमित रोमांचादि अनुभाव तथा निर्वेद, हर्ष एवं मति इत्यादि व्यभिचारी भावों से शान्त रस की निर्मल धारा प्रवाहित हो रही है।

इस प्रकार, यहाँ तक भोजप्रबन्ध में आगत रसों का विवेचन किया गया है। ये वे स्थल थे जहाँ विभावादि का सम्पूर्ण निर्वाह प्राप्त हुआ। अन्य कतिपय स्थलों पर भी रस-प्रतीति होती है, पर उदाहरणार्थ उन्हीं स्थलों को दिखाया गया है जिनमें रस का पूर्ण परिपाक प्राप्त होता है। वैसे एक ग्रंथ की दृष्टि से भोजप्रबन्ध में अद्भुत रस बतलाया जा सकता है। इस दृष्टि से, इसे पढ़ने के उपरान्त पाठक का विस्मय नामक स्थायी भाव, अलौकिक कथावस्तु (सभी कवि, एक ही साथ, एक ही जगह) इसका 'आलंबन', उन कवियों आदि के चरितों का वर्णन 'उद्दीपन' विभाव, (इसे पढ़ने के उपरान्त उत्पन्न) रोमांच एवं स्तम्भादि अनुभाव तथा भ्रांति आदि व्यभिचारी भाव, परिपुष्ट होकर अद्भुत रस की सुन्दर एवं मनोरंजक अभिव्यंजना करते हैं।

निष्कर्ष

यह विवेचन स्पष्ट करता है कि भोजप्रबन्ध कोई निरुद्देश्य, निरर्थक कथा-संग्रह न होकर एक सोद्देश्य, सार्थक कथा-संग्रहात्मक फैण्टेसी है, जिसे श्रीबल्लाल ने अपने मनोभावों की अभिव्यक्ति हेतु प्रणीत किया। अपि च, यह विभिन्न अलंकारों से अलंकृत तथा अद्भुत रस से परिपूर्ण है, जिसकी विवेचना ऊपर की गई है। इस प्रकार, यह सिद्ध होता है कि श्री बल्लाल एक सरस एवं सहज (अद्भुत) फैण्टेसी के प्रणयन में सफल रहे हैं।

उपसंहार

इस प्रकार, प्रस्तुत पुस्तक में भोजप्रबन्ध का सामान्य अध्ययन किया गया है। जैसा कि प्रारम्भ में प्रतिपादित किया गया था तथा इस पूर्वोक्त विवेचन के अवलोकन से भी स्पष्ट होता है कि इस अध्ययन में तार्किक, शास्त्रीय एवं सिद्धान्तों के विकासात्मक पक्ष को उद्घाटित करने वाली पद्धति का आश्रय लिया गया है। प्रत्येक उस तत्त्व का, जो कि भोजप्रबन्ध में स्पष्टतः प्रतीत एवं विद्यमान है; यथा-अलंकार, रस, गद्य, पद्य, फैण्टेसी इत्यादि; उनके काल-क्रमानुसार संक्षिप्त एवं युक्तिसंगत परिचय के साथ; निरूपण किया गया है। यद्यपि अन्य विवेच्य तथ्यों का उल्लेख प्रत्येक अध्यायान्त में प्रदत्त निष्कर्ष में कर दिया गया है, तथापि अध्यायानुसार सार-संक्षेप की चर्चा सम्भवतः यहाँ अप्रासंगिक न होगी।

प्रथम अध्याय में श्रीबल्लाल कवि के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर प्रकाश डाला गया है। श्रीबल्लाल कवि सोलहवीं शती के उत्तरार्द्ध में हुए थे, इसे इनके वंशजों के साक्ष्य से प्रमाणित किया गया है। इनकी कृति, 'भोजप्रबन्ध' की अनैतिहासिकता को प्रमाणों द्वारा पुष्ट किया गया है। इससे यह कवि-कल्पित काव्य सिद्ध होता है और इसकी सोद्देश्यता का भी ज्ञान होता है।

द्वितीय अध्याय में, चम्पू-काव्यों के क्रमिक विकास एवं ह्रास की पृष्ठभूमि में भोजप्रबन्ध के चम्पू-काव्यत्व की सिद्धि की गई है। साथ ही, भोजप्रबन्ध में आगत पद्यों का विस्तृत विषयानुसार विवेचन तथा गद्य भाग का विवेचन भी प्रस्तुत किया गया है।

तृतीय एवं अन्तिम अध्याय में, इसे एक फैण्टेसी सिद्ध किया गया है। फैण्टेसी को काल्पनिक चिन्तन का एक रूप माना जा सकता है। पर यह कपोल-कल्पना नहीं होती; अपितु यह वस्तु जगत् से एक निश्चित एवं सक्रिय सम्बन्ध भी रखती है। वस्तुतः फैण्टेसी अभी एक शिल्पविशेष के रूप में पूर्णतया प्रतिष्ठित नहीं हो पाई है और इस विषय में अभी बहुत शोध अपेक्षित है क्योंकि यह एक मनोवैज्ञानिक व्यापार पहले है, साहित्यिक विधा बाद में। इसी अध्याय में, काव्य के शरीर

(शब्द एवं अर्थ) के अलंकरणों (अर्थात् अलंकारों) तथा प्राण (अर्थात् रस तत्त्व) का विवेचन भी किया गया है।

अतः, निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि, यह अध्ययन एक ओर जहाँ भोजप्रबन्ध के विषय में विद्यमान भ्रान्तियों का निराकरण करता है, तथा उसे एक **कथा-संग्रहात्मक, उपदेशात्मक, उद्देश्यात्मक फैण्टेसी मूलक चम्पू-काव्य** सिद्ध करता है; वहीं दूसरी ओर संस्कृत-वाङ्मय में अति प्राचीन काल से प्रकटित (एवं अब तक उपेक्षित) फैण्टेसी तत्त्व को भली-भाँति अन्वेषित तथा प्रतिपादित करने हेतु शोध का मार्ग भी प्रशस्त करता है।

परिशिष्ट–1

॥ श्रीः ॥

भोजप्रबन्धः

स्वस्ति श्रीमहाराजाधिराजस्य भोजराजस्य प्रबन्धः कथ्यते—

आदौ धाराराज्ये सिन्धुलसंज्ञो राजा चिरं प्रजाः पर्यपालयत्। तस्य वृद्धत्वे भोज इति पुत्रः समजनि। स यदा पञ्चवार्षिकस्तदा पिता ह्यात्मनो जरां ज्ञात्वा मुख्यामात्यानाहूयानुजं मुञ्जं महाबलमालोक्य पुत्रं च बालं वीक्ष्य विचारयामास—'यद्यहं राजलक्ष्मीभारधारणसमर्थं सोदरमपहाय राज्यं पुत्राय प्रयच्छामि, तदा लोकापवादः। अथवा बालं मे पुत्रं मुञ्जो राज्यलोभाद्विषादिना मारयिष्यति, तदा दत्तमपि राज्यं वृथा। पुत्रहानिर्वंशोच्छेदश्च।

'लोभः प्रतिष्ठा पापस्य प्रसूतिर्लोभ एव च।
द्वेषक्रोधादिजनको लोभः पापस्य कारणम्॥ 1॥

लोभात्क्रोधः प्रभवति क्रोधाद् द्रोहः प्रवर्तते।
द्रोहेण नरकं याति शास्त्रज्ञोऽपि विचक्षणः॥ 2॥

मातरं पितरं पुत्रं भ्रातरं वा सुहृत्तमम्।
लोभाविष्टो नरो हन्ति स्वामिनं वा सहोदरम्'॥ 3॥

इति विचार्य राज्यं मुञ्जाय दत्त्वा तदुत्सङ्गे भोजमात्मजं मुमोच।

ततः क्रमाद्राजनि दिवं गते संप्राप्तराज्यसंपत्तिर्मुञ्जो मुख्यामात्यं बुद्धिसागरनामानं व्यापारमुद्रया दूरीकृत्य तत्पदेऽन्यं नियोजयामास[1]। ततो गुरुभ्यः क्षितिपालपुत्रं वाचयति। ततः क्रमेण सभायां ज्योतिःशास्त्रपारंगतः सकलविद्याचातुर्यवान्ब्राह्मणः समागम्य राज्ञे 'स्वस्ति' इत्युक्त्वोपविष्टः। स चाह—'देव, लोकोऽयं मां सर्वज्ञं वक्ति। तत्किमपि पृच्छ।

---

1. स्थापयामास

'कण्ठस्था या भवेद्विद्या सा प्रकाश्या सदा बुधैः।
या गुरौ पुस्तके विद्या तया मूढः प्रतार्यते'॥ 4॥

इति राजानं प्राह। ततो राजापि विप्रस्याऽहंभावमुद्रया चमत्कृतां तद्वार्तां श्रुत्वा 'अस्माकं जन्मारभ्यैतत्क्षणपर्यन्तं यद्यन्मयाचरितं यद्यत्कृतं तत्तत्सर्वं वदसि यदि भवान्सर्वज्ञ एव' इत्युवाच। ततो ब्राह्मणोऽपि राज्ञा यद्यत्कृतं तत्तत्सर्वमुवाच गूढव्यापारमपि। ततो राजापि सर्वाण्यप्यभिज्ञानानि ज्ञात्वा तुतोष। पुनश्च पञ्चषट्पदानि गत्वा पादयोः पतित्वेन्द्रनीलपुष्पराग-मरकतवैडूर्यखचितसिंहासन उपवेश्य राजा प्राह–

'मातेव रक्षति पितेव हिते नियुङ्क्ते
कान्तेव चाभिरमयत्यपनीय खेदम्।
कीर्तिं च दिक्षु विमलां वितनोति लक्ष्मीं
किं किं न साधयति कल्पलतेव विद्या'॥ 5॥

ततो विप्रवराय दशाश्वानाजानेयान्ददौ।

ततः सभायामासीनो बुद्धिसागरः प्राह राजानम्–'देव, भोजस्य जन्मपत्रिकां ब्राह्मणं पृच्छ' इति। ततो मुञ्जः प्राह–'भोजस्य जन्मपत्रिकां विधेहि' इति। ततोऽसौ ब्राह्मण उवाच–'अध्ययनशालाया भोज आनेतव्यः' इति। मुञ्जोऽपि ततः कौतुकादध्ययनशालामलंकुर्वाणं भोजं भटैरानाययामास। ततः साक्षात् पितरमिव राजानमानम्य सविनयं तस्थौ। ततस्तद्रूपलावण्यमोहिते राजकुमारमण्डले प्रभूतसौभाग्यं महीमण्डलमागतं महेन्द्रमिव, साकारं मन्मथमिव, मूर्त्तिमत्सौभाग्यमिव, भोजं निरूप्य राजानं प्राह दैवज्ञः–'राजन्, भोजस्य भाग्योदयं वक्तुं विरञ्चिरपि नालम्, कोऽहमुदरंभरिर्ब्राह्मणः। किञ्चित्तथापि वदामि स्वमत्यनुसारेण। भोजमितोऽध्ययनशालायां प्रेषय।' ततो राजाज्ञया भोजेऽध्ययनशालां गते विप्रः प्राह–

पञ्चाशत्पञ्चवर्षाणि सप्तमासंदिनत्रयम्।
भोजराजेन भोक्तव्यः सगौडो दक्षिणापथः'॥ 6॥

इति। तत्तदाकर्ण्य राजा चातुर्यादपहसन्निव सुमुखोऽपि विच्छाय-वदनोऽभूत्। ततो राजा ब्राह्मणं प्रेषयित्वा[1] निशीथे शयनमासाद्यैकाकी

1. आमन्त्र्य

सन् व्यचिन्तयत्–'यदि राज्यलक्ष्मीर्भोजकुमारं गमिष्यति, तदाऽहं जीवन्नपि मृतः।'

'तानीन्द्रियाण्यविकलानि तदेव नाम
सा बुद्धिरप्रतिहता वचनं तदेव।
अर्थोष्मणा विरहितः पुरुषः क्षणेन
सोऽप्यन्य एव भवतीति विचित्रमेतत्॥ 7॥

किं च

'शरीरनिरपेक्षस्य दक्षस्य व्यवसायिनः।
बुद्धिप्रारब्धकार्यस्य नास्ति किंचन दुष्करम्॥ 8॥

असूयया हतेनैव पूर्वोपायोद्यमैरपि।
कर्तृणा[1] गृह्यते संपत्सुहृद्भिर्मन्त्रिभिस्तथा'॥ 9॥

'तत्रोद्यमे किं दुःसाध्यम्?'

'अतिदाक्षिण्ययुक्तानां शङ्कितानां पदे पदे।
परापवादभीरूणां दूरतो यान्ति संपदः'॥ 10॥

किं च

'आदानस्य प्रदानस्य कर्तव्यस्य च कर्मणः।
क्षिप्रमक्रियमाणस्य कालः पिबति संपदः॥ 11॥

अवमानं पुरस्कृत्य मानं कृत्वा च पृष्ठतः।
स्वार्थं समुद्धरेत्प्राज्ञः स्वार्थभ्रंशो हि मूर्खता॥ 12॥

न स्वल्पस्य कृते भूरि नाशयेन्मतिमान्नरः।
एतदेवात्र पाण्डित्यं[2] यत्स्वल्पाद् भूरिरक्षणम्॥ 13॥

जातमात्रं न यः शत्रुं व्याधिं वा प्रशमं नयेत्।
अतिपुष्टाङ्गयुक्तोऽपि स पश्चात्तेन हन्यते॥ 14॥

---

1. कर्तृणाम्
2. एतदेवातिपाण्डित्यम्

प्रज्ञागुप्तशरीरस्य किं करिष्यन्ति संहताः।
हस्तन्यस्तातपत्रस्य वारिधारा इवारयः॥ 15॥

अफलानि दुरन्तानि समव्ययफलानि च।
अशक्यानि च वस्तूनि नारभेत विचक्षणः'॥ 16॥

ततश्चैवं विचिन्तयन्नभुक्त एव दिनस्य तृतीये याम एक एव मन्त्रयित्वा बङ्गदेशाधीश्वरस्य महाबलस्य वत्सराजस्याऽऽकारणाय स्वमङ्गरक्षकं प्राहिणोत्। स चाङ्गरक्षको वत्सराजमुपेत्य प्राह–'राजा त्वामाकारयति' इति। ततः स रथमारुह्य परिवारेण परिवृतः समागतो रथादवतीर्य राजानमवलोक्य प्रणिपत्योपविष्टः। राजा च सौधं निर्जनं विधाय वत्सराजं प्राह–

'राजा तुष्टोऽपि भृत्यानां मानमात्रं प्रयच्छति।
ते तु संमानितास्तस्य प्राणैरप्युपकुर्वते'॥ 17॥

'ततस्त्वया भोजो भुवनेश्वरीविपिने हन्तव्यः प्रथमयामे निशायाः। शिरश्चात:[1]'पुरमानेतव्यम्' इति। स चोत्थाय नृपं नत्वाऽऽह–'देवादेशः प्रमाणम्। तथापि भवल्लालनात्किमपि वक्तुकामोऽस्मि। ततः सापराधमपि मे वचः क्षन्तव्यम्।

'भोजे द्रव्यं न सेना वा परिवारो बलान्वितः।
परं पोत इवास्तेऽद्य स हन्तव्यः कथं प्रभो'॥ 18॥

पारम्पर्य इवासक्तस्त्वत्पाद उदरंभरिः।
तद्वधे कारणं नैव पश्यामि नृपपुंगवः॥ 19॥

ततो राजा सर्वं प्रातः सभायां प्रवृत्तं वृत्तमकथयत्। स च श्रुत्वा हसन्नाह–

त्रैलोक्यनाथो रामोऽस्ति वसिष्ठो ब्रह्मपुत्रकः।
तेन राज्याभिषेके तु मुहूर्तः कथितोऽभवत्॥ 20॥

तन्मुहूर्तेन रामोऽपि वनं नीतोऽवनीं विना।
सीतापहारोप्यभवद्वैरिञ्चिवचनं वृथा॥ 21॥

---

1. ० न्ते पुनरानेतव्यम्।

जातः कोऽयं नृपश्रेष्ठ किंचिज्ज्ञ उदरंभरिः।
यदुक्त्या मन्मथाकारं कुमारं हन्तुमिच्छसि॥ 22॥

किं च

किं नु मे स्यादिदं कृत्वा किं नु मे स्यादकुर्वतः।
इति संचिन्त्य मनसा प्राज्ञः कुर्वीत वा न वा॥ 23॥

उचितमनुचितं वा कुर्वता कार्यजातं
परिणतिरवधार्या यत्नतः पण्डितेन।
अतिरभसकृतानां कर्मणामाविपत्ते-
र्भवति हृदयदाही शल्यतुल्यो विपाकः॥ 24॥

किं च

येन सहासितमशितं हसितं कथितं च रहसि विस्त्रब्धम्।
तं प्रति कथमसतामपि निवर्तते चित्तमामरणात्॥ 25॥

किं च

अस्मिन्हते वृद्धस्य राज्ञः सिन्धुलस्य परमप्रीतिपात्राणि महावीरास्तवैवानुमते स्थिताः, ते त्वन्नगरमुल्लोलकल्लोलाः पयोधरा इव प्लावयिष्यन्ति। चिराद्बद्धमूलेऽपि त्वयि प्रायः पौरा भोजं भुवो भर्तारं भावयन्ति। किं च–

सत्यपि च सुकृतकर्मणि दुर्नीतिश्चेच्छ्रियं हरत्येव।
तैलैः सदोपयुक्तां दीपशिखां विदलयति हि वातालिः॥ 26॥

तद् देव, पुत्रवधः क्वापि न हिताय।' इत्युक्तं वत्सराजवचनमाकर्ण्य राजा कुपितः प्राह–'त्वमेव राज्याधिपतिः, न तु सेवकः।

स्वाम्युक्ते यो न यतते स भृत्यो भृत्यपाशकः।
तज्जीवनमपि व्यर्थमजागलकुचाविव'॥ 27॥

इति।

ततो वत्सराजः 'कालोचितमालोचनीयम्' इति मत्वा तूष्णीं बभूव।

अथ लम्बमाने दिवाकर उत्तुङ्गसौधोत्सङ्गादवतरन्तं कुपितमिव कृतान्तं वत्सराजं वीक्ष्य समेता अपि विविधेन मिषेण स्वभवनानि प्रापुर्भीताः सभासदः। ततः स्वसेवकान्स्वागारपरित्राणार्थं प्रेषयित्वा[1] रथं भुवनेश्वरी-भवनाभिमुखं विधाय भोजकुमारोपाध्यायाऽऽकारणाय प्राहिणोदेकं वत्सराजः। स चाह पण्डितम्—'तात, त्वामाकारयति वत्सराजः' इति। सोऽपि तदाकर्ण्य वज्राहत इव, भूताविष्ट इव, ग्रहग्रस्त इव, तेन सेवकेन करेण धृत्वानीतः पण्डितः। तं च बुद्धिमान्वत्सराजः सप्रणाममित्याह—'पण्डित, तात, उपविश। राजकुमारं जयन्तमध्ययनशालाया आनय' इति। आयान्तं जयन्तं कुमारं किमप्यधीतं पृष्ट्वानैषीत्। पुनः प्राह पण्डितम्—'विप्र, भोजकुमारमानय' इति। ततो विदितवृत्तान्तो भोजः कुपितो ज्वलन्निव शोणितेक्षणः समेत्याह—'आः पाप, राज्ञो मुख्यकुमारमेकाकिनं मां राजभवनाद्बहिरानेतुं तव का नाम शक्तिः' इति वामचरणपादुकामादाय भोजेन तालुदेशे वत्सराजः। ततो वत्सराजः प्राह—'भोज, वयं राजादेशकारिणः' इति। बालं रथे निवेश्य खड्गमपकोशं कृत्वा जगामाशु महामायाभवनम्।

ततो गृहीते भोजे लोकाः कोलाहलं चक्रुः। हुंभावश्च प्रवृत्तः। 'किं किम्' इति ब्रुवाणा भटा विक्रोशन्त आगत्य सहसा भोजं वधाय नीतं ज्ञात्वा हस्तिशालामुष्ट्रशालां वाजिशालां रथशालां प्रविश्य सर्वाञ्जघ्नुः। ततः प्रतोलीषु राजभवनप्राकारवेदिकासु बहिर्द्वारविटङ्केषु पुरसमीपेषु भेरीपटहमुरज-मड्डकडिण्डिमनिनादाडम्बरेणाम्बरं विडम्बितमभूत्। केचिद्विमलासिना केचि-द्विषेण केचित्कुन्तेन केचित्पाशेन केचिद्वह्निना केचित्परशुना केचिद्भल्लेन केचित्तोमरेण केचित्प्रासेन केचिदम्भसा केचिद्धारायां ब्राह्मणयोषितो राजपुत्रा राजसेवका राजानः पौराश्च प्राणपरित्यागं विदधुः।

ततः सावित्रीसंज्ञा भोजस्य जननी विश्वजननीव स्थिता दासी-मुखात्स्वपुत्रस्थितिमाकर्ण्य कराभ्यां नेत्रे पिधाय रुदती प्राह—'पुत्र, पितृव्येन कां दशां गमितोऽसि। ये मया नियमा उपवासाश्च त्वत्कृते कृताः, तेऽद्य मे विफला जाताः। दशापि दिशामुखानि शून्यानि। पुत्र, देवेन सर्वज्ञेन सर्वशक्तिनाऽऽमृष्टाः श्रियः। पुत्र, एनं दासीवर्गं सहसा विच्छिन्नशिरसं पश्य' इत्युक्त्वा भूमावपतत्।

---

1. नियोज्य।

ततः प्रदीप्ते वैश्वानरे समुद्भूतधूमस्तोमेनैव मलीमसे नभसि पापत्रासादिव पश्चिमपयोनिधौ मग्ने मार्तण्डमण्डले महामायाभवनमासाद्य प्राह भोजं वत्सराजः–'कुमार, भृत्यानां दैवत, ज्योतिःशास्त्रविशारदेन केनचित् ब्राह्मणेन तव राज्यप्राप्तावुदीरितायां राज्ञा भवद्वधो व्यादिष्टः' इति।

भोजः प्राह–

'रामस्य व्रजनं[1] बलेर्नियमनं पाण्डोः सुतानां वनं
वृष्णीनां निधनं नलस्य नृपते राज्यात्परिभ्रंशनम्।
कारागारनिषेवणं च मरणं[2] सञ्चिन्त्य लङ्केश्वरे
सर्वः कालवशेन नश्यति नरः को वा परित्रायते।। 28।।

लक्ष्मीकौस्तुभपारिजातसहजः सूनुः सुधाम्भोनिधे-
र्देवेन प्रणयप्रसादविधिना मूर्ध्ना धृतः शंभुना।
अद्याप्युज्झति नैव दैवविहितं क्षैण्यं क्षपावल्लभः
केनान्येन विलङ्घ्यते विधिगतिः पाषाणरेखासखी।। 29।।

विकटोर्व्यामप्यटनं शैलारोहणमपांनिधेस्तरणम्।
निगडं गुहाप्रवेशो विधिपरिपाकः कथं नु संतार्यः।। 30।।

अम्भोधिः स्थलतां स्थलं जलधितां धूलीलवः शैलतां
मेरुर्मत्कुणतां[3] तृणं कुलिशतां वज्रं तृणप्रायताम्।
वह्निः शीतलतां हिमं दहनतामायाति यस्येच्छया
लीलादुर्ललिताद्भुतव्यसनिने देवाय तस्मै नमः'।। 31।।

ततो वटवृक्षस्य पत्रे आदायैकं पुटीकृत्य जङ्घां छुरिकया छित्त्वा तत्र पुटके रक्तमारोप्य तृणेनैकस्मिन्पत्रे कञ्चन श्लोकं लिखित्वा वत्सं प्राह–'महाभाग, एतत्पत्रं नृपाय दातव्यम्। त्वमपि राजाज्ञां विधेहि' इति। ततो वत्सराजस्यानुजो भ्राता भोजस्य प्राणपरित्यागसमये दीप्यमान-मुखश्रियमवलोक्य प्राह–

---

1. रामे प्रव्रजनम्
2. वरणम्
3. मृत्कणताम्

'एक एव सुहृद्धर्मो निधनेऽप्यनुयाति यः।
शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यत्तु गच्छति॥ 32॥

न ततो हि सहायार्थे माता भार्या च तिष्ठति।
न मित्रपुत्रौ[1] न ज्ञातिर्धर्मस्तिष्ठति केवलः॥ 33॥

बलवानप्यशक्तोऽसौ धनवानपि निर्धनः।
श्रुतवानपि मूर्खश्च यो धर्मविमुखो जनः॥ 34॥

इहैव नरकव्याधेश्चिकित्सां न करोति यः।
गत्वा निरौषधस्थानं स रोगी किं करिष्यति॥ 35॥

जरां मृत्युं भयं व्याधिं यो जानाति स पण्डितः।
स्वस्थस्तिष्ठेन्निषीदेद्वा स्वपेद्वा केनचिद्धसेत्॥ 36॥

तुल्यजातिवयोरूपान्हृतान्पश्यति मृत्युना।
नहि तत्रास्ति ते त्रासो वज्रवद्धृदयं तव'॥ 37॥ इति।

ततो वैराग्यमापन्नो वत्सराजो भोजं 'क्षमस्व' इत्युक्त्वा प्रणम्य तं च रथे निवेश्य नगराद्बहिर्घने तमसि गृहमागमय्य भूमिगृहान्तरे निक्षिप्य भोजं ररक्ष। स्वयमेव कृत्रिमविद्याविद्भिः सुकुण्डलं स्फुरद्वक्त्रं निमीलितनेत्रं भोजकुमारमस्तकं कारयित्वा तच्चादाय राजभवनं गत्वा राजानं नत्वा प्राह–'श्रीमता यदादिष्टं तत्साधितम्' इति। ततो राजा च पुत्रवधं ज्ञात्वा तमाह–'वत्सराज, खड्गप्रहारसमये तेन पुत्रेण किमुक्तम्' इति। वत्सराज-स्तत्पत्रमदात्। राजा स्वभार्याकरेण दीपमानीय तानि पत्राक्षराणि वाचयति–

'मान्धाता च महीपतिः कृतयुगालङ्कारभूतो गतः
सेतुर्येन महोदधौ विरचितः क्वासौ दशास्यान्तकः।
अन्ये चापि युधिष्ठिरप्रभृतयो याता दिवं भूपते
नैकेनापि समं गता वसुमती मुञ्ज त्वया यास्यति'॥ 38॥

राजा च तदर्थं ज्ञात्वा शय्यातो भूमौ पपात। ततश्च देवीकरकमलचालितचेलाञ्चलानिलेन ससंज्ञो भूत्वा 'देवि, मा मां स्पृश, हा हा पुत्र-

1. मित्रपुत्रं

घातिनम्' इति विलपन्कुरर इव द्वारपालानानाय्य 'ब्राह्मणानानयत' इत्याह। ततः स्वाज्ञया समागतान्ब्राह्मणान्नत्वा 'मया पुत्रो हतः, तस्य प्रायश्चित्तं वदत' इति वदन्तं ते तमूचुः—'राजन्, सहसा वह्निमाविश' इति।

ततः समेत्य बुद्धिसागरः प्राह—'यथा त्वं राजाधमः, तथैवामात्याधमो वत्सराजः। तव किल राज्यं दत्त्वा सिन्धुलनृपेण तेन त्वदुत्सङ्गे भोजः स्थापितः। तच्च त्वया पितृव्येणान्यत्कृतम्।

कतिपयदिवसस्थायिनि मदकारिणि यौवने दुरात्मानः।
विदधति तथापराधं जन्मैव यथा वृथा भवति॥ 39॥

सन्तस्तृणोत्सारणमुत्तमाङ्गात् सुवर्णकोट्यर्पणमामनन्ति।
प्राणव्ययेनापि कृतोपकाराः खलाः परे वैरमिवोद्वहन्ति॥ 40॥

उपकारश्चापकारो यस्य व्रजति विस्मृतिम्।
पाषाणहृदयस्याऽय जीवतीत्यभिधा मुधा॥ 41॥

यथाङ्कुरः सुसूक्ष्मोऽपि प्रयत्नेनाभिरक्षितः।
फलप्रदो भवेत् काले तथा लोकः सुरक्षितः॥ 42॥

हिरण्यधान्यरत्नानि धनानि विविधानि च।
तथान्यदपि यत्किञ्चित्प्रजाभ्यः स्युर्महीभृताम्॥ 43॥

राज्ञि धर्मिणि धर्मिष्ठाः पापे पापपराः सदा।
राजानमनुवर्तन्ते यथा राजा तथा प्रजाः'॥ 44॥

ततो रात्रावेव वह्निप्रवेशनं निश्चिते, राज्ञि सर्वे सामन्ताः पौराश्च मिलिताः[1] 'पुत्रं हत्वा पापभयाद्भीतो नृपतिर्वह्निं प्रविशति' इति किंवदन्ती सर्वत्राजनि। ततो बुद्धिसागरो द्वारपालमाहूय 'न केनापि भूपालभवनं प्रवेष्टव्यम्' इत्युक्त्वा नृपमन्तःपुरे निवेश्य सभायामेकाकी सन्नुपविष्टः। ततो राजमरणवार्तां श्रुत्वा वत्सराजः सभागृहमागत्य बुद्धिसागरं नत्वा शनैः प्राह—'तात, मया भोजराजो रक्षितः' इति। बुद्धिसागरश्च कर्णे तस्य किमप्यकथयत्। तच्छ्रुत्वा वत्सराजश्च निष्क्रान्तः।

1. निश्चितवति

ततो मुहूर्तेन कोऽपि करकलितदन्तीन्द्रदन्तदण्डो विरचितप्रत्यग्रजटाकलापः कर्पूरकरम्बितभासितोद्वर्तितसकलतनुमूर्तिमान्मन्मथ इव स्फटिककुण्डलमण्डितकर्णयुगलः कौशेयकौपीनो मूर्तिमांश्चन्द्रचूड इव सभां कापालिकः समागतः। तं वीक्ष्य बुद्धिसागरः प्राह—'योगीन्द्र, कुत आगम्यते। कुत्र ते निवेशश्च। कापालिके त्वयि कश्चिच्चमत्कारकारी कलाविशेष औषधविशेषोऽप्यस्ति।'

योगी प्राह—

'देशे देशे भवनं भवने भवने तथैव भिक्षान्नम्।
सरसि च नद्यां सलिलं शिवशिवतत्त्वार्थयोगिनां पुंसाम्॥ 45॥

ग्रामे ग्रामे कुटी रम्या निर्झरे निर्झरे जलम्।
भिक्षायां सुलभं चान्नं विभवैः किं प्रयोजनम्॥ 46॥

देव, अस्माकं नैको देशः। सकलभूमण्डलं भ्रमामः। गुरूपदेशे तिष्ठामः। निखिलं भुवनतलं करतलामलकवत्पश्यामः। सर्पदष्टं विषव्याकुलं रोगग्रस्तं शस्त्रभिन्नशिरस्कं कालशिथिलितं, तात, तत्क्षणादेव विगतसकलव्याधिसञ्चयं कुर्मः' इति। राजापि कुड्यान्तर्हित एव श्रुतसकलवृत्तान्तः सभामागतः कापालिकं दण्डवत्प्रणम्य 'योगीन्द्र, रुद्रकल्प, परोपकारपरायण, महापापिना[1] मया हतस्य पुत्रस्य प्राणदानेन मां रक्ष' इत्याह।

अथ कापालिकोऽपि 'राजन्, मा भैषीः। पुत्रस्ते न मरिष्यति। शिव प्रसादेन गृहमेष्यति। परं श्मशानभूमौ बुद्धिसागरेण सह होमद्रव्याणि प्रेषय' इत्यवोचत्।

ततो राज्ञा 'कापालिकेन यदुक्तं तत्सर्वं तथा कुरु' इति बुद्धिसागरः प्रेषितः। ततो रात्रौ गूढरूपेण भोजोऽपि तत्र नदीपुलिने नीतः। योगिना भोजो जीवितः' इति प्रथा च समभूत्। ततो गजेन्द्रारूढो बन्दिभिः स्तूयमानो भेरीमृदङ्गादिघोषैर्जगद्बधिरीकुर्वन्पौरामात्यपरिवृतो भोजराजो राजभवनमगात्। राजा च तमालिङ्ग्य रोदिति। भोजोऽपि रुदन्तं मुञ्जं निवार्याऽस्तौषीत्। ततः सन्तुष्टो राजा निजसिंहासने तस्मिन्निवेश्य छत्रचामराभ्यां भूषयित्वा तस्मै राज्यं ददौ। निजपुत्रेभ्यः प्रत्येकमेकैकं ग्रामं दत्त्वा परमप्रेमास्पदं जयन्तं

1. महापापात्मना

भोजसकाशे निवेशयामास। ततः परलोकपरित्राणो मुञ्जोऽपि निजपट्टराज्ञीभिः सह तपोवनभूमिं गत्वा परं तपस्तेपे। ततो भोजभूपालश्च देवब्राह्मणप्रसादाद्राज्यं पालयामास।

ततो मुञ्जे तपोवनं याते बुद्धिसागरं मुख्यामात्यं विधाय स्वराज्यं बुभुजे भोजराजभूपतिः। एवमतिक्रामति काले कदाचिद्राज्ञा क्रीडोद्यानं गच्छता कोऽपि धारानगरवासी विप्रो लक्षितः। स च राजानं वीक्ष्य नेत्रे निमील्यागच्छन्राज्ञा पृष्टः—'द्विज, त्वं मां दृष्ट्वा न स्वस्तीति जल्पसि। विशेषेण लोचने निमीलयसि। तत्र को हेतुः' इति।

विप्र आह—'देव, त्वं वैष्णवोऽसि। विप्राणां नोपद्रवं करिष्यसि, ततस्त्वत्तो न मे भीतिः। किं तु कस्मैचित्किमपि न प्रयच्छसि, तेन तव दाक्षिण्यमपि नास्ति। अतस्ते किमाशीर्वचसा। किं च प्रातरेव कृपणमुखावलोकनात्परतोऽपि लाभहानिः स्यादिति लोकोक्त्या लोचने निमीलिते। अपि च—

प्रसादो निष्फलो यस्य कोपश्चापि निरर्थकः।
न तं राजानमिच्छन्ति प्रजाः षण्ढमिव स्त्रियः॥ 47॥

अप्रगल्भस्य या विद्या कृपणस्य च यद्धनम्।
यच्च बाहुबलं भीरोर्व्यर्थमेतत्त्रयं भुवि॥ 48॥

देव, मत्पिता वृद्धः काशीं प्रति गच्छन्मया शिक्षां पृष्टः—'तात, मया किं कर्तव्यम्' इति।

पित्रा चेत्यमभ्यधायि—

"यदि तव हृदयं विद्वन्सुनयं स्वप्नेऽपि मा स्म सेविष्ठाः।
सचिवजितं षण्ढजितं युवतिजितं चैव राजानम्॥ 49॥

पातकानां समस्तानां द्वे परे तात पातके।
एकं दुःसचिवो राजा द्वितीयं च तदाश्रयः॥ 50॥

अविवेकमतिर्नृपतिर्मन्त्री गुणवत्सु वक्रितग्रीवः।
यत्र खलाश्च प्रबलास्तत्र कथं सज्जनावसरः॥ 51॥

राजा सम्पत्तिहीनोऽपि सेव्यः सेव्यगुणाश्रयः।
भवत्याजीवनं तस्मात्फलं कालान्तरादपि"॥ 52॥

'अदातुर्दाक्षिण्यं नहि भवति। देव, पुरा कर्णदधीचिशिबिविक्रमप्रमुखाः क्षितिपतयो यथा परलोकमलङ्कुर्वाणा निजदानसमुद्भूतदिव्यनवगुणैर्निवसन्ति महीमण्डले तथा किमपरे राजानः?

देहे पातिनि का रक्षा यशो रक्ष्यमपातवत्।
नरः पतितकायोऽपि यशःकायेन जीवति॥ 53॥

पण्डिते चैव मूर्खे च बलवत्यपि दुर्बले।
ईश्वरे च दरिद्रे च मृत्योः सर्वत्र तुल्यता॥ 54॥

निमेषमात्रमपि ते वयो गच्छन्न तिष्ठति।
तस्माद्देहेष्वनित्येषु कीर्तिमेकामुपार्जयेत्॥ 55॥

जीवितं तदपि जीवितमध्ये गण्यते सुकृतिभिः किमु पुंसाम्।
ज्ञानविक्रमकलाकुललज्जात्यागभोगरहितं विफलं यत्'॥ 56॥

राजापि तेन वाक्येन पीयूषपूरस्नात इव, परब्रह्मणि लीन इव, लोचनाभ्यां हर्षाश्रूणि मुमोच। प्राह च द्विजम्—'प्रियवर'[1], शृणु—

सुलभाः पुरुषा लोके सततं प्रियवादिनः।
अप्रियस्य च पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः॥ 57॥

मनीषिणः सन्ति न ते हितैषिणः।
हितैषिणः सन्ति न ते मनीषिणः।
सुहृच्च विद्वानपि दुर्लभो नृणां
यथौषधं स्वादु हितं च दुर्लभम्॥ 58॥

ततो विप्राय लक्षं दत्त्वा 'किं ते नाम' इत्याह। विप्रः स्वनाम भूमौ लिखति 'गोविन्दः' इति। राजा वाचयित्वा 'विप्र, प्रत्यहं राजभवनमागन्तव्यम्। न ते कश्चिन्निषेधः। विद्वांसः कवयश्च कौतुकात्सभामानेतव्याः। कोऽपि विद्वान्न खलु दुःखभागस्तु। एवमधिकारं पालय' इत्याह।

---

1. विप्रवर

एवं गच्छत्सु कतिपयदिवसेषु राजा विद्वत्प्रियो दानवित्तेश्वर इति प्रथामगात्। ततो राजानं दिदृक्षवः कवयो नानादिग्भ्यः समागताः। एवं वित्तादिव्ययं कुर्वाणं राजानं प्रति कदाचिन्मुख्यामात्येनेत्थमभ्यधायि–'देव, राजानः कोशबला एव विजयिनः। नान्ये।

स जयी वरमातङ्गा यस्य तस्यास्ति मेदिनी।
कोशो यस्य स दुर्धर्षो दुर्गं यस्य स दुर्जयः॥ 59॥

देव, लोकं पश्य–

प्रायो धनवतामेव धने तृष्णा गरीयसी।
पश्य कोटिद्वयासक्तं लक्षाय प्रवणं धनुः॥ 60॥

राजा च तमाह–

'दानोपभोगवन्ध्या या सुहृद्भिर्या न भुज्यते।
पुंसां समाहिता लक्ष्मीरलक्ष्मीः क्रमशो भवेत्'॥ 61॥

इत्युक्त्वा राजा तं मन्त्रिणं निजपदाद् दूरीकृत्य तत्पदेऽन्यं निवेशयामास। आह च तम्–

'लक्षं महाकवेर्देयं तदर्धं विबुधस्य च।
देयं ग्रामैकमर्धस्य[1] तस्याप्यर्धं तदर्थिनः॥ 62॥

यश्च मेऽमात्यादिषु वितरणनिषेधमनाः स हन्तव्यः। उक्तं च–

यद्ददाति यदश्नाति तदेव धनिनां धनम्।
अन्ये मृतस्य क्रीडन्ति दारैरपि धनैरपि॥ 63॥

प्रियः प्रजानां दातैव न पुनर्द्रविणेश्वरः।
अयच्छन्काङ्क्ष्यते लोकैर्वारिदो न तु वारिधिः॥ 64॥

सङ्ग्रहैकपरः प्रायः समुद्रोऽपि रसातले।
दातारं जलदं पश्य गर्जन्तं भुवनोपरि'॥ 65॥

---

1. ग्रामैकमर्ध्यस्य

एवं वितरणशालिनं भोजराजं श्रुत्वा कश्चित्कलिङ्गदेशात्कविरुपेत्य मासमात्रं तस्थौ। न च क्षोणीन्द्रदर्शनं भवति। आहारार्थे पाथेयमपि नास्ति। ततः कदाचिद्राजा मृगयाभिलाषी बहिर्निर्गतः। स कविर्दृष्ट्वा राजानमाह–

दृष्टे श्रीभोजराजेन्द्रे गलन्ति त्रीणि तत्क्षणात्।
शत्रोः शस्त्रं कवेः कष्टं नीवीबन्धो मृगीदृशाम्[1]'॥ 66॥

राजा लक्षं ददौ। ततस्तस्मिन्मृगयारसिके राजनि कश्चन पुलिन्दपुत्रो गायति। तद्गीतमाधुर्येण तुष्टो राजा तस्मै पुलिन्दपुत्राय पञ्चलक्षं ददौ। तदा कविस्तद्दानमत्युन्नतं किरातपोतं च दृष्ट्वा नरेन्द्रपाणिकमलस्थपङ्कजमिषेण राजानं वदति–

'एते हि गुणाः पङ्कज सन्तोऽपि न ते प्रकाशमायान्ति।
यल्लक्ष्मीवसतेस्तव मधुपैरुपभुज्यते कोशः॥ 67॥

भोजस्तमभिप्रायं ज्ञात्वा पुनर्लक्षमेकं ददौ। ततो राजा ब्राह्मणमाह–

प्रभुभिः पूज्यते विप्र कलैव न कुलीनता।
कलावान्मान्यते मूर्ध्नि सत्सु देवेषु शम्भुना'॥ 68॥

एवं वदति भोजे कुतोऽपि पञ्चषाः कवयः समागताः। तान्दृष्ट्वा राजा विलक्ष इवासीत्–'अद्यैव मयैतावद्वित्तं दत्तम्' इति। ततः कविस्तमभिप्रायं ज्ञात्वा नृपं पद्ममिषेण पुनः प्राह–

'किं कुप्यसि कस्मैचन सौरभचौराय कुप्य निजमधुने।
यस्य कृते शतपत्र प्रतिपत्रं तेऽद्य मृग्यते भ्रमरैः'॥ 69॥

ततः प्रभुं प्रसन्नवदनमवलोक्य प्रकाशेन प्राह–

'न दातुं नोपभोक्तुं च शक्नोति कृपणः श्रियम्।
किन्तु स्पृशति हस्तेन नपुंसक इव स्त्रियम्॥ 70॥

याचितो यः प्रहृष्येत दत्त्वा च प्रीतिमान्भवेत्।
तं दृष्ट्वाप्यथवा श्रुत्वा नरः स्वर्गमवाप्नुयात्'॥ 71॥

1. गौखञ्च मनीषिणाम्

ततस्तुष्टो राजा पुनरपि कलिङ्गदेशवासिने कवये लक्षं ददौ। ततः पूर्वकविः पुरःस्थितान् षट् कवीन्द्रान्दृष्ट्वाह–'हे कवयः, अत्र महासरःसेतुभूमौ वासी राजा यदा भवनं गमिष्यति तदा किमपि ब्रूत' इति। ते च सर्वे महाकवयोऽपि सर्वराज्ञः प्रथमचेष्टितं ज्ञात्वाऽवर्तन्त। तेष्वेकः सरोमिषेण नृपं प्राह–

'आगतानामपूर्णानां पूर्णानामपि गच्छताम्।
यदध्वनि न संघट्टो घटानां तत्सरोवरम्'॥ 72॥

तस्मै राजा लक्षं ददौ। ततो गोविन्दपण्डितस्तान्कवीन्द्रान् दृष्ट्वा चुकोप। तस्य कोपाभिप्रायं ज्ञात्वा द्वितीयः कविराह–

'कस्य तृषं न क्षपयसि पिबति न कस्तव पयः प्रविश्यान्तः।
यदि सन्मार्गसरोवर नक्रो न क्रोडमधिवसति'॥ 73॥

राजा तस्मै लक्षद्वयं ददौ। तं च गोविन्दपण्डितं व्यापारपदाद् दूरीकृत्य 'त्वयापि सभायामागन्तव्यम्, परं तु केनापि दौष्ट्यं न कर्तव्यम्' इत्युक्त्वा ततस्तेभ्यः प्रत्येकं लक्षं दत्त्वा स्वनगरमागतः। ते च यथायथं गताः।

ततः कदाचिद्राजा मुख्यामात्यं प्राह–

विप्रोऽपि यो भवेन्मूर्खः स पुराद्बहिरस्तु मे।
कुम्भकारोऽपि यो विद्वान्स तिष्ठतु पुरे मम'॥ 74॥ इति।

अतः कोऽपि न मूर्खोऽभूद्धारानगरे।

ततः क्रमेण पञ्चशतानि विदुषां वररुचि-बाण-मयूर-रेफण-हरि-शंकर-कलिङ्ग-कर्पूर-विनायक-मदन-विद्या-विनोद-कोकिल-तारेन्द्रमुखाः सर्वशास्त्रविचक्षणाः सर्वे सर्वज्ञाः श्रीभोजराजसभामलञ्चक्रुः। एवं स्थिते कदाचिद्विद्वद्वृन्दवन्दिते सिंहासनासीने कविशिरोमणौ कवित्वप्रिये विप्रप्रिय-बान्धवे भोजेश्वरे द्वारपाल एत्य प्रणम्य व्यजिज्ञपत्–'देव, कोऽपि विद्वान्द्वारि तिष्ठति' इति। अथ राजा 'प्रवेशय तम्' इत्याज्ञप्ते सोऽपि दक्षिणेन पाणिना समुन्नतेन विराजमानो विप्रः प्राह–

राजन्नभ्युदयोऽस्तु

राजा–	शंकरकवे किं पत्रिकायामिदम्
कविः–	पद्यम्
राजा–	कस्य
कविः–	तवैव भोजनृपते
राजा–	तत्पठ्यताम्
कविः–	पठ्यते

एतासामरविन्दसुन्दरदृशां द्राक्चामरान्दोलना-
दुद्वेल्लद्भुजवल्लिकङ्कणझणत्कारः क्षणं वार्यताम्।। 75।।

यथा यथा भोजयशो विवर्धते
सितां त्रिलोकीमिव कर्तुमुद्यताम्।
तथा तथा मे हृदयं विदूयते
प्रियालकालीधवलत्वशङ्कया'।। 76।।

ततो राजा शंकरकवये द्वादशलक्षं ददौ। सर्वे विद्वांसश्च विच्छायवदना बभूवुः। परं कोऽपि राजभयान्नावदत्। राजा च कार्यवशाद् गृह गतः।

ततो विभूपालां दृष्ट्वा विबुधगणस्तं निनिन्द–'अहो नृपतेरज्ञता। किमस्य सेवया। वेदशास्त्रविचक्षणेभ्यः स्वाश्रयकविभ्यो लक्षमदात्। किमनेन वितुष्टेनापि। असौ च केवलं ग्राम्यः कविः शंकरः। किमस्य प्रागल्भ्यम्' इति।

एवं कोलाहलरवे जाते कश्चिदभ्यगात् कनकमणिकुण्डलशाली दिव्यांशुकप्रावरणो नृपकुमार इव मृगमदपङ्ककलङ्कितगात्रो नवकुसुम-समभ्यर्चितशिराश्चन्दनाङ्गरागेण विलोभयन्विलास इव मूर्तिमान्कवितेव तनुमाश्रितः शृङ्गाररसस्य स्यन्द इव सस्यन्दो महेन्द्र इव महीवलयं प्राप्तो विद्वान्। तं दृष्ट्वा सा विद्वत्परिषद्भयकौतुकयोः पात्रमासीत्। स च सर्वान्प्रणिपत्य प्राह–'कुत्र भोजनृपः' इति। ते तमूचुः–'इदानीमेव सौधान्तरं गतः' इति।

ततोऽसौ प्रत्येकं तेभ्यस्ताम्बूलं दत्त्वा गजेन्द्रकुलगतो मृगेन्द्र इवासीत्। ततः स महापुरुषः शंकरकविप्रदानेन कुपितांस्तान्बुद्ध्वा प्राह–'भवद्भिः शंकरकवये द्वादशलक्षाणि प्रदत्तानीति न मन्तव्यम्। अभिप्रायस्तु राज्ञो नैव बुद्धः। यतः शंकरपूजने प्रारब्धे शंकरकविस्त्वेकेनैव लक्षेण पूजितः। किं तु तन्निष्ठांस्तन्नाम्ना विभ्राजितानेकादशरुद्रानपराञ्शङ्करमूर्त्तिविशेषान्प्रत्यक्षाञ्ज्ञात्वा तेषां प्रत्येकमेकैकं लक्षं तस्मै शंकरकवय एव शंकरमूर्तये प्रदत्तमिति राज्ञोऽभिप्रायः' इति। सर्वेऽपि चमत्कृतास्तेन।

ततः कोऽपि राजपुरुषस्तद्विद्वत्स्वरूपं द्राग्राज्ञे निवेदयामास। राजा च स्वमभिप्रायं साक्षाद्विदितवन्तं तं महेशमिव महापुरुषं मन्यमानः सभामभ्यगात्। स च 'स्वस्ति' इत्याह राजानम्। राजा च तमालिङ्ग्य प्रणम्य निजकरकमलेन तत्करकमलमवलम्ब्य सौधान्तरं गत्वा प्रोत्तुङ्गगवाक्ष उपविष्टः प्राह–'विप्र, भवन्नाम्ना कान्यक्षराणि सौभाग्यावलम्बितानि। कस्य वा देशस्य भवद्विरहः सुजनान् बाधन्ते' इति। ततः कविर्लिखति राज्ञो हस्ते 'कालिदासः' इति। राजा वाचयित्वा पादयोः पतति।

ततस्तत्रासीनयोः कालिदासभोजराजयोरासीत्सन्ध्या। राजा 'सखे, सन्ध्यां वर्णय' इत्यवादीत्।

कालिदासः–

'व्यसनिनि इव विद्या क्षीयते पङ्कजश्री-
र्गुणिन इव विदेशे दैन्यमायान्ति भृङ्गाः।
कुनृपतिरिव लोकं पीडयत्यन्धकारो
धनमिव कृपणस्य व्यर्थतामेति चक्षुः'॥ 77॥

पुनश्च राजानं स्तौति कविः–

'उपचारः कर्तव्यो यावदनुत्पन्नसौहृदाः पुरुषाः।
उत्पन्नसौहृदानामुपचारः कैतवं भवति॥ 78॥

दत्ता तेन कविभ्यः पृथ्वी सकलापि कनकसम्पूर्णा।
दिव्यां सुकाव्यरचनां क्रमं कवीनां च यो विजानाति॥ 79॥

सुकवेः शब्दसौभाग्यं सत्कविर्वेत्ति नापरः।
वन्ध्या न हि विजानाति परां दौर्हृदसम्पदम्'॥ 80॥

ततः क्रमेण भोजकालिदासयोः प्रीतिरजायत।

ततः कालिदासं वेश्यालम्पटं ज्ञात्वा तस्मिन्सर्वे द्वेषं चक्रुः। न कोऽपि तं स्पृशति। अथ कदाचित्सभामध्ये कालिदासमालोक्य भोजेन मनसा चिन्तितम्– 'कथमस्य प्राज्ञस्यापि स्मरपीडाप्रमादः' इति। सोऽपि तदभिप्रायं ज्ञात्वा प्राह–

'चेतोभुवश्चापलताप्रसङ्गे का वा कथा मानुषलोकभाजाम्।
यद्दाहशीलस्य पुरां विजेतुस्तथाविधं पौरुषमर्धमासीत्॥ 81॥

ततस्तुष्टो भोजराजः प्रत्यक्षरं लक्षं ददौ।

ततः कालिदासो भोजं स्तौति–

'महाराज श्रीमञ्जगति यशसा ते धवलिते
पयःपारावारं परमपुरुषोऽयं मृगयते।
कपर्दी कैलासं करिवरमभौमं कुलिशभृत्
कलानाथं राहुः कमलभवनो हंसमधुना॥ 82॥

नीरक्षीरे गृहीत्वा निखिलखगपतीर्याति नालीकजन्मा
चक्रं धृत्वा तु सर्वानटति जलनिधींश्चक्रपाणिर्मुकुन्दः।
सर्वानुत्तुङ्गशैलान् दहति पशुपतिः भालनेत्रेण पश्यन्
व्याप्ता त्वत्कीर्तिकान्ता त्रिजगति नृपते भोजराज क्षितीन्द्र॥ 83॥

विद्वद्राजशिखामणे तुलयितुं धाता त्वदीयं यशः
कैलासं च निरीक्ष्य तत्र लघुतां निक्षिप्तवान् पूर्तये।
उक्षाणं तदुपर्युमासहचरं तन्मूर्ध्नि गङ्गाजलं
तस्याग्रे फणिपुङ्गवं तदुपरि स्फारं सुधादीधितिम्॥ 84॥

स्वर्गाद्गोपाल कुत्र व्रजसि सुरमुने भूतले कामधेनो–
र्वत्सस्यानेतुकामस्तृणचयमधुना मुग्धदुग्धं न तस्याः।

श्रुत्वा श्रीभोजराजप्रचुरवितरणं व्रीडशुष्कस्तनी सा
व्यर्थो हि स्यात्प्रयासस्तदपि तदरिभिश्चर्वितं सर्वमुर्व्याम्॥ 85॥

तुष्टो राजा प्रत्यक्षरं लक्षं ददौ।

ततः कदाचिच्छ्रुतिस्मृतिपारङ्गताः केचिद्राजानं कवित्वप्रियं ज्ञात्वा क्वचिन्नगराद्बहिः 'भुवनेश्वरीप्रसादेन कवित्वं करिष्यामः' इत्युपविष्टाः। तेष्वेकेन पण्डितम्मन्येनैकश्चरणोऽपाठि–

'भोजनं देहि राजेन्द्र', इति।

अन्येनापाठि–

'घृतसूपसमन्वितम्', इति।

उत्तरार्धं न स्फुरति। ततो देवताभवनं कालिदासः प्रणामार्थमगात्। वीक्ष्य द्विजा ऊचुः–'अस्माकं समग्रवेदविदामपि भोजः किमपि नार्पयति भवादृशां हि यथेष्टं दत्ते। ततोऽस्माभिः कवित्वविधानविधाऽत्रागतम्। चिरं विचार्य पूर्वार्धमभ्यधायि। उत्तरार्धं कृत्वा देहि। ततोऽस्मभ्यं किमपि प्रयच्छति। इत्युक्त्वा तत्पुरस्तादर्धमभाणि। स च तच्छ्रुत्वा–

'माहिषं च शरच्चन्द्रचन्द्रिकाधवलं दधि'॥ 86॥

इत्याह।

ते च राजभवनं गत्वा दौवारिकानूचुः–'वयं कवितां कृत्वा समागताः राजानं दर्शयत' इति। ते च कौतुकाद्धसन्तो गत्वा राजानं प्रणम्य प्राहुः–

राजमाषनिभैर्दन्तैः कटिविन्यस्तपाणयः।
द्वारि तिष्ठन्ति राजेन्द्रच्छान्दसाः श्लोकशत्रवः॥ 87॥ इति।

राज्ञा प्रवेशितास्ते दृष्टराजसंसदो मिलिताः सन्तः सहैव कवित्वं पठन्ति स्म। राजा तच्छ्रुत्वोत्तरार्धं कालिदासेन कृतमिति ज्ञात्वा विप्रानाह–'येन पूर्वार्धं कारितं तन्मुखात्कवित्वं कदाचिदपि न करणीयम्। उत्तरार्धस्य किञ्चिद्दीयते, न पूर्वार्धस्य।' इत्युक्त्वा प्रत्यक्षरं लक्षं ददौ। तेषु च दक्षिणामादाय

गतेषु कालिदासं वीक्ष्य राजा प्राह–'कवे, उत्तरार्धं त्वया कृतम्' इति। कविराह–

'अधरस्य मधुरिमाणं कुचकाठिन्यं दृशोश्च तैक्ष्ण्यं।
कवितायां परिपाकं ह्यनुभवरसिको विजानाति'॥ 88॥

राजा–'सुकवे, सत्यं वदसि।

अपूर्वो भाति भारत्याः काव्यामृतफले रसः।
चर्वणे सर्वसामान्ये स्वादुवित्केवलं कविः॥ 89॥

सञ्चिन्त्य सञ्चिन्त्य जगत्समस्तं
त्रयः पदार्था हृदयं प्रविष्टाः।
इक्षोर्विकारा मतयः कवीनां
मुग्धाङ्गनापाङ्गतरङ्गितानि'॥ 90॥

ततः कदाचिद् द्वारपालकः प्रणम्य भोजं प्राह–'राजन्, द्रविड-देशात्कोऽपि लक्ष्मीधरनामा कविर्द्वारमध्यास्ते' इति। राजा 'प्रवेशय' इत्याह। प्रविष्टमेव सूर्यमिव विभ्राजमानं चिरादप्यविदितवृत्तान्तं प्रेक्ष्य राजा विचारयामास, आह च–

'आकारमात्रविज्ञानसम्पादितमनोरथाः।
धन्यास्ते ये न शृण्वन्ति दीनाः क्वाप्यर्थिना गिरः'॥ 91॥

स चागत्य तत्र राजानं 'स्वस्ति' इत्युक्त्वा तदाज्ञयोपविष्टः प्राह–'देव, इयं ते पण्डितमण्डिता सभा। त्वं च साक्षाद्विष्णुरसि। ततः किं नाम पाण्डित्यं मम। तथाऽपि किञ्चिद्वच्मि–

'भोजप्रतापं तु विधाय धात्रा
शेषैर्निरस्तैः परमाणुभिः किम्।
हरेःकरेऽभूत्पविरम्बरे च भानुः
पयोधेरुदरे कृशानुः'॥ 92॥

ततस्तेन परिषच्चमत्कृता। राजा च तस्य प्रत्यक्षरं लक्षं ददौ। पुनः कविराह–देव, मया सकुटुम्बेनात्र निवासाशया समागतम्।

क्षमी दाता गुणग्राही स्वामी पुण्येन लभ्यते।
अनुकूलः शुचिर्दक्षः कविर्विद्वान्सुदुर्लभः॥ 93॥ इति।

ततो राजा मुख्यामात्यं प्राह—'अस्मै गृहं दीयताम्' इति। ततो निखिलमपि नगरं विलोक्य कमपि मूर्खममात्यो नापश्यत्, यं निरस्य विदुषे गृहं दीयते। तत्र सर्वत्र भ्रमन्कस्यचित्कुविन्दस्य गृहं वीक्ष्य कुविन्दं प्राह—'कुविन्द, गृहान्निःसर तव गृहं विद्वानेष्यति' इति। ततः कुविन्दो राजभवनमासाद्य राजानं प्रणम्य प्राह—देव, भवदमात्यो मां मूर्खं कृत्वा गृहान्निःसारयति, त्वं तु पश्य अहं मूर्खः पण्डितो वेति।

काव्यं करोमि न हि चारुतरं करोमि
यत्नात्करोमि यदि चारुतरं करोमि।
भूपालमौलिमणिमण्डितपादपीठ हे
साहसाङ्क कवयामि वयामि यामि'॥ 94॥

ततो राजा त्वंकारवादेन वदन्तं कुविन्दं प्राह—'ललिता ते पदपङ्क्तिः, कविताामाधुर्यं च शोभनम्, परन्तु कवित्वं विचार्य वक्तव्यम्' इति। ततः कुपितः कुविन्दः प्राह—'देव अत्रोत्तरं भाति, किन्तु न वदामि। राजधर्मः पृथग्विद्वद्धर्मात्' इति। राजा प्राह—'अस्ति चेदुत्तरं ब्रूहि' इति। कुविन्दः प्राह—'देव, कालिदासादृतेऽन्यं कविं न मन्ये। कोऽस्ति ते सभायां कालिदासादृते कवितातत्त्वविद्विद्वान्?

यत्सारस्वतवैभवं गुरुकृपापीयूषपाकोद्भवं
तल्लभ्यं कविनैव नैव हठतः पाठप्रतिष्ठाजुषाम्।
कासारे दिवसं वसन्नपि पयःपूरं परं पङ्किलं
कुर्वाणः कमलाकरस्य लभते किं सौरभं सैरिभः॥ 95॥

अयं मे वाग्गुम्फो विशदपदवैदग्ध्यमधुरः
स्फुरद्बन्धो वन्ध्यः परहृदि[1] कृतार्थः कविहृदि।
कटाक्षो वामाक्ष्या दरदलितनेत्रान्तगलितः
कुमारे[2] निःसारः स तु किमपि यूनः सुखयति'॥ 96॥ इति।

---

1. जडहृदि
2. किशोरे

विद्वज्जनवन्दिता सीता प्राह—

विपुलहृदयाभियोग्ये खिद्यति काव्ये जडो न मौर्ख्ये स्वे ।
'निन्दति कञ्चुकमेव प्रायः शुष्कस्तनी नारी'॥ 97॥

ततः कुविन्दः प्राह—

'बाल्ये सुतानां सुरतेऽङ्गनानां
स्तुतौ कवीनां समरे भटानाम्।
त्वंकारयुक्ता हि गिरः प्रशस्ताः
कस्ते प्रभो मोहभरः स्मर त्वम्'॥ 98॥

ततो राजा 'साधु भोः कुविन्द' इत्युक्त्वा तस्याक्षरलक्षं ददौ। 'मा भैषीः' इति पुनः कुविन्दं प्राह।

एवं क्रमेणातिक्रान्ते कियत्यपि काले बाणः पण्डितवर परं राज्ञा मन्यमानोऽपि प्राक्तनकर्मतो दारिद्र्यमनुभवति। एवं स्थिते नृपतिः कदाचिद्रात्रावेकाकी प्रच्छन्नवेषः स्वपुरे चरन् बाणगृहमेत्याऽतिष्ठत्। तदा निशीथे बाणो दारिद्र्याद् व्याकुलतया कान्तां वक्ति—'देवि, राजा किंयद्वारं मम मनोरथमपूरयत्। अद्याऽपि पुनः प्रार्थितो ददात्येव। परन्तु निरन्तरप्रार्थनारसे मूर्खस्याऽपि जिह्वा जडीभवति'। इत्युक्त्वा मुहूर्तार्धं मौनेन स्थितः। ततः पुनः पठति—

'हर हर पुरहर परुषं क्व हालाहलफल्गुयाचनावचसोः।
एकैव तव रसज्ञा तदुभयरसतारतम्यज्ञा॥99॥

देवि,

दारिद्र्यस्यापरा मूर्तिर्याञ्चा च द्रविणाल्पता।
अपि कौपीनवांच्छंभुस्तथापि परमेश्वरः॥ 100॥

सेवा सुखानां व्यसनं धनानां याञ्चा
गुरूणां कुनृपः प्रजानाम्।
प्रणष्टशीलश्च सुतः कुलानां
मूलावघातः कठिनः कुठारः॥101॥

तत्सत्यपि दारिद्र्ये राज्ञो वक्तुं मया स्वयमशक्यम्।

यच्छन् क्षणमपि जलदो वल्लभतामेति सर्वलोकस्य।
नित्यप्रसारितकरः करोति सूर्योऽपि सन्तापम्॥ 102॥

किं च देवि, वैश्वदेवावसरे प्राप्ताः क्षुधार्ताः पश्चाद्यान्तीति तदेव मे हृदयं दुनोति।

दारिद्र्यानलसन्तापः शान्तः सन्तोषवारिणा।
याचकाशाविघातान्तर्दाहः केनोपशाम्यते'॥ 103॥

राजा चैतत्सर्वं श्रुत्वा 'नेदानीं किमपि दातुं योग्यः। प्रातरेव बाणं पूर्णमनोरथं करिष्यामि' इति।

निष्क्रान्तो राजा–

कृतो यैर्न च वाग्मी च व्यसनी तन्न यैः पदम्।
यैरात्मसदृशो नार्थी किं तैः काव्यैर्बलैर्धनैः॥ 104॥

एवं पुरे परिभ्रममाणे राजनि वर्त्मनि चोरद्वयं गच्छति। तयोरेकः प्राह शकुन्तः–'सखे, स्फारान्धकारविततेऽपि जगत्यञ्जनवशात्सर्वं परमाणुप्रायमपि वसु सर्वत्र पश्यामि। परन्तु सम्भारगृहानीतकनकजातमपि न मे सुखाय' इति। द्वितीयो मरालनामा चोर आह–'आहृतं सम्भारगृहात्कनकजातमपि न हितमिति कस्माद्धेतोरुच्यते' इति। ततः शकुन्तः प्राह–'सर्वतो नगररक्षकाः परिभ्रमन्ति। सर्वोऽपि जागरिष्यत्येषां भेरीपटहादीनां निनादेन। तस्मादाहृतं विभज्य स्वस्वभागागतं धनमादाय शीघ्रमेव गन्तव्यम्'। मरालः प्राह–'सखे, त्वमनेन कोटिद्वयपरिमितमणिकनकजातेन किं करिष्यसि' इति।

शकुन्तः–एतद्धनं कस्मैचिद् द्विजन्मने दास्यामि यथाऽयं वेदवेदाङ्गपारगोऽन्यं न प्रार्थयते।

मरालः–सखे, चारु।

ददतो युध्यमानस्य पठतः पुलकोऽथ चेत्।
आत्मनश्च परेषां च तद्दानं पौरुषं स्मृतम्॥ 105॥

अनेन दानेन तव कथं पुण्यफलं भविष्यति?

शकुन्तः—अस्माकं पितृपैतामहोऽयं धर्मः, यच्चौर्येण वित्तमानीयते।

मरालः— शिरश्छेदमङ्गीकृत्यार्जितं द्रव्यं निखिलमपि कथं दीयते?

शकुन्तः—

मूर्खो न हि ददात्यर्थं नरो दारिद्र्यशङ्कया।
प्राज्ञस्तु वितरत्यर्थं नरो दारिद्र्यशङ्कया॥ 106॥

मरालः—

किञ्चिद्वेदमयं पात्रं किञ्चित्पात्रं तपोमयम्।
पात्राणामुत्तमं पात्रं शूद्रान्नं यस्य नोदरे॥ 107॥

शकुन्तः—अनेन वित्तेन किं करिष्यति भवान्?

मरालः—सखे, काशीवासी कोऽपि विप्रबटुरत्राऽऽगात्। तेनास्मत्पितुः पुरः काशीवासफलं व्यावर्णितम्। ततोऽस्मत्तातो बाल्यादारभ्य चौर्यं कुर्वाणो दैववशात्स्वपापान्निवृत्तो वैराग्यात्सकुटुम्बः काशीमेष्यति। तदर्थमिदं द्रविणजातम्।

शकुन्तः—महद्भाग्यं तव पितुः। तथा हि—

वाराणसीपुरीवासवासनावासितात्मना।
किं शुना समतां याति वराकः पाकशासनः॥ 108॥

ऊषरं कर्मसस्यानां क्षेत्रं वाराणसी पुरी।
यत्र संलभ्यते मोक्षः समं चाण्डालपण्डितैः॥ 109॥

मरणं मङ्गलं यत्र विभूतिश्च विभूषणम्।
कौपीनं यत्र कौशेयं सा काशी केन मीयते॥ 110॥

एवमुभयोः संवादं श्रुत्वा राजा तुतोष। अचिन्तयच्च मनसि—कर्मणां गतिः सर्वथैव विचित्रा। उभयोरपि पवित्रा मतिः' इति।

ततो राजा विनिवृत्त्य भवनान्तरे पितृपुत्रावपश्यत्। तत्र पिता पुत्रं प्राह—इदानीं परिज्ञातशास्त्रतत्त्वोऽपि नृपतिः कार्पण्येन किमपि न प्रयच्छति। किन्तु—

अर्थिनि कवयति कवयति पठति
च पठति स्तवोन्मुखे स्तौति।
पश्चाद्यामीत्युक्ते मौनी
दृष्टिं निमीलयति'।। 111।।

राजाऽप्येतच्छ्रुत्वा तत्समीपं प्राप्य 'मैवं वद' इति स्वगात्रात्सर्वाभरणान्युत्तार्य दत्त्वा तस्मै ततो गृहमासाद्य कालान्तरे सभामुपविष्टः कालिदासं प्राह–'सखे,

कवीनां मानसं नौमि तरन्ति प्रतिभाम्भसि।'

ततः कविराह–

'यत्र हंसवयांसीव भुवनानि चतुर्दश'।। 112।।

ततो राजा प्रत्यक्षरमुक्ताफललक्षं ददौ।

ततः प्रविशति द्वारपालः–'देव, कोऽपि कौपीनावशेषो विद्वान्द्वारि तिष्ठति', इति।

राजा–प्रवेशय।

ततः प्रवेशितः कविरागत्य 'स्वस्ति' इत्युक्त्वानुक्त एवोपविष्टः प्राह–

इह निवसति मेरुः शेखरो भूधराणा-
मिह हि निहितभाराः सागराः सप्त चैव।
इदमतुलमनन्तं भूतलं भूरिभूतो-
द्भवधरणसमर्थं स्थानमस्मद्विधानाम्।। 113।।

राजा–महाकवे, किं ते नाम? अभिधत्स्व।

कविः–नामग्रहणं नोचितं पण्डितानाम्। तथापि वदामि यदि जानासि।

न हि स्तनन्धयी बुद्धिर्गम्भीरं गाहते वचः।
तलं तोयनिधेर्द्रष्टुं यष्टिरस्ति न वैणवी।। 114।।

देव, आकर्णय–

च्युतामिन्दोर्लेखां रतिकलह[1]भग्नं च वलयं
समं चक्रीकृत्य प्रहसितमुखी शैलतनया।
अवोचद्यं पश्येत्यवतु गिरिशः सा च गिरिजा
स च क्रीडाचन्द्रो दशनकिरणापूरिततनुः'।। 115।।

कालिदासः—सखे क्रीडाचन्द्र, चिराद् दृष्टोऽसि। कथमीदृशी ते दशा मण्डले मण्डले विराजत्यपि राजनि बहुधनवति।

क्रीडाचन्द्रः—

धनिनोऽप्यदानविभवा गण्यन्ते धुरि महादरिद्राणाम्।
हन्ति न यतः पिपासामतः समुद्रोऽपि मरुरेव।। 116।।

किं च

उपभोगकातराणां पुरुषाणामर्थसंचयपराणाम्।
कन्यामणिरिव सदने तिष्ठत्यर्थः परस्यार्थे।। 117।।

सुवर्णमणिकेयूराडम्बरैरन्यभूभृतः।
कलयैव पदं भोज तेषामाप्नोति सारवित्।। 118।।

सुधामयानीव सुधां गलन्ति विदग्ध[2]संयोजनमन्तरेण।
काव्यानि निर्व्याजमनोहरणि वाराङ्गनानामिव यौवनानि।। 119।।

ज्ञायते जातु नामापि न राज्ञः कवितां विना।
कवेस्तद्व्यतिरेकेण न कीर्तिः स्फुरति क्षितौ।। 120।।

मयूरः—

ते वन्द्यास्ते महात्मानस्तेषां लोके स्थिरं यशः।
यैर्निबद्धानि काव्यानि ये च काव्ये प्रकीर्तिताः।। 121।।

वररुचिः—

पदव्यक्तिव्यक्तीकृतसहृदयाबन्धललिते
कवीनां मार्गेऽस्मिन्स्फुरति बुधमात्रस्य धिषणा।

1. निजकरगतं.
2. निदाघ

न च[1] क्रीडालेशव्यसनपिशुनोऽयं कुलवधू-
कटाक्षाणां पन्थाः स खलु गणिकानामविषयः॥ 122॥

राजा क्रीडाचन्द्राय विंशति गजेन्द्रान् ग्रामपञ्चकं च ददौ। ततो राजानं कविः स्तौति–

कङ्कणं नयनद्वन्द्वे तिलकं करपल्लवे।
अहो भूषणवैचित्र्यं भोजप्रत्यर्थियोषिताम्॥ 123॥

तुष्टो राजा पुनरक्षरलक्षं ददौ।

ततः कदाचित्कोऽपि जराजीर्णसर्वाङ्गसन्धिः पण्डितो रामेश्वरनामा सभामभ्यगात्। स चाह–

'पञ्चाननस्य सुकवेर्गजमांसैर्नृपश्रिया।
पारणा जायते क्वापि सर्वत्रैवोपवासिनः॥ 124॥

वाहानां पण्डितानां च परेषामपरो जनः।
कवीन्द्राणां गजेन्द्राणां ग्राहको नृपतिः परः॥ 125॥

एवं हि

सुवर्णैः पट्टचैलैश्च शोभा स्याद्वारयोषिताम्।
पराक्रमेण दानेन राजन्ते राजनन्दनाः'॥ 126॥

इत्याकर्ण्य राजा रामेश्वरपण्डिताय सर्वाभरणान्युत्तार्य लक्षद्वयं प्रायच्छत्। तत स्तौति कविः–

'भोज त्वत्कीर्तिकान्तांया नभोभालस्थितं महत्।
कस्तूरीतिलकं राजन् गुणाकर विराजते॥ 127॥

बुधाग्रे न गुणान्ब्रूयात्साधु वेत्ति यतः स्वयम्।
मूर्खाग्रेऽपि च न ब्रूयाद् बुधप्रोक्तं न वेत्ति सः॥ 128॥

तेन चमत्कृताः सर्वे।

---

1. नव

राजेश्वरकविः—

'ख्यातिं गमयति सुजनः सुकविर्विदधाति केवलं काव्यम्।
पुष्णाति कमलमम्भो लक्ष्म्या तु रविर्नियोजयति'॥ 129॥

ततस्तुष्टो राजा प्रत्यक्षरं लक्षं ददौ। राजेन्द्रं कविः प्राह—

'कवित्वं न शृणोत्येव कृपणः कीर्तिवर्जितः।
नपुंसकः किं कुरुते पुरःस्थितमृगीदृशा'॥ 130॥

सीता प्राह—

'हता दैवेन कवयो वराकास्ते गजा अपि।
शोभा न जातये तेषां मण्डलेन्द्रगृहं विना'॥ 131॥

कालिदासः—

'अदातृमानसं क्वापि न स्पृशन्ति कवेर्गिरः।
दुःखायैवातिवृद्धस्य विलासास्तरुणीकृताः'॥ 132॥

राजा प्रतिपण्डितं लक्षं दत्तवान्।

ततः कदाचिद्राजा समस्तादपि कविमण्डलादधिकं कालिदासमवलोक्यायान्तं परं वेश्यालोलत्वेन चेतसि खेदलवं चक्रे। तदा विद्वद्वृन्दवन्दिता सीता तदभिप्रायं ज्ञात्वा प्राह—'देव,

'दोषमपि गुणवति जने दृष्ट्वा गुणरागिणो न खिद्यन्ते।
प्रीत्यैव शशिनि पतितं पश्यति लोकः कलङ्कमपि'॥ 133॥

तुष्टो राजा सीतायै लक्षं ददौ। तथापि कालिदासं यथापूर्वं न मानयति यदा, तदा स च कालिदासो राज्ञोऽभिप्रायं विदित्वा तुलामिषेण प्राह—

'प्राप्य प्रमाणपदवीं को नामाऽऽस्ते तुलेऽवलेपस्ते।
नयसि गरिष्ठमधस्तात्तदितरमुच्चैस्तरां कुरुषे'॥ 134॥

पुनराह—

'यस्यास्ति सर्वत्र गतिः स कस्मा-
त्स्वदेशरागेण हि याति खेदम्।
तातस्य कूपोऽयमिति ब्रुवाणः
क्षारं जलं कापुरुषाः पिबन्ति'॥ 135॥

ततो राज्ञा कृतामवज्ञां मनसि विदित्वा कालिदासो दुर्मना निजवेश्म ययौ।

अवज्ञास्फुटितं प्रेम समीकर्तुं क ईश्वरः।
सन्धिं न याति स्फुटितं लाक्षालेपेन मौक्तिकम्॥ 136॥

ततो राजापि खिन्नः स्थितः। ततो लीलावती खिन्नं दृष्ट्वा राजानं विषादकारणमपृच्छत्। राजा च रहसि सर्वं तस्यै प्राह। सा च राजमुखेन कालिदासावज्ञां ज्ञात्वा पुनः प्राह–'देव प्राणनाथ, सर्वज्ञोऽसि।

स्नेहो हि वरमघटितो न वरं संजातविघटितस्नेहः।
हृतनयनो हि विषादी न विषादी भवति जात्यन्धः॥ 137॥

परन्तु कालिदासः कोऽपि भारत्याः पुरुषावतारः। तत्सर्वभावेन सम्मानयैनं विद्वद्भ्यः। पश्य–

दोषाकरोऽपि कुटिलोऽपि कलङ्कितोऽपि
मित्रावसानसमये विहितोदयोऽपि।
चन्द्रस्तथापि हरवल्लभतामुपैति
नैवाश्रितेषु गुणदोषविचारणा स्यात्॥ 138॥

राजा 'प्रिये, सर्वमेतत्सत्यमेव' इत्यङ्गीकृत्य 'श्वः कालिदासं प्रातरेव सन्तोषयिष्यामि' इत्यवोचत्।

अन्येद्युः राजा दन्तधावनादिविधिं विधाय निर्वर्तितनित्यकृत्यः सभां प्राप। पण्डिताः कवयश्च गायका अन्ये प्रकृतयश्च सर्वे समाजग्मुः। कालिदासमेकमनागतं वीक्ष्य राजा स्वसेवकमेकं तदाकारणाय वेश्यागृहं प्रेषयामास। स च गत्वा कालिदासं नत्वा प्राह–'कवीन्द्र, त्वामाकारयति भोजनरेन्द्रः' इति। ततः कविर्व्यचिन्तयत्–'गतेऽह्नि नृपेणावमानितोऽहमद्य प्रातरेवाकारणे किं कारणमिति।

यं यं नृपोऽनुरागेण सम्मानयति संसदि।
तस्य तस्योत्सारणाय यतन्ते राजवल्लभाः॥ 139॥

किन्तु विशेषतो राज्ञाऽन्वहं मान्यमाने मयि मायाविनो मत्सराद्वैरं बोधयन्ति।

अविवेकमतिर्नृपतिर्मन्त्री गुणवत्सु वक्रितग्रीवः।
यत्र खलाश्च प्रबलास्तत्र कथं सज्जनावसरः'॥ 140॥

इति विचारयन्सभामागच्छत्। ततो दूरे समायान्तं वीक्ष्य सानन्दमासनादुत्थाय 'सुकवे, मत्प्रियतम, अद्य कथं विलम्बः क्रियते' इति भाषमाणः पञ्चषट्पदानि सम्मुखो गच्छति। ततो निखिलाऽपि सभा स्वासनादुत्थिता। सर्वे सभासदश्च चमत्कृताः वैरिणश्चास्य विच्छायवदना बभूवुः। ततो राजा निजकरकमलेनास्य करकमलमवलम्ब्य स्वासनदेशं प्राप्य तं च सिंहासन उपवेश्य स्वयं च तदाज्ञया तत्रैवोपविष्टः। ततो राजसिंहासनारूढे कालिदासे बाणकविर्दक्षिणं बाहुमुद्धृत्य प्राह–

'भोजः कलाविद्रुद्रो वा कालिदासस्य माननात्।
विबुधेषु कृतो राजा येन दोषाकरोऽप्यसौ'॥ 141॥

ततोऽस्य विशेषेण विद्वद्भिः सह वैरानलः प्रदीप्तः।

ततः कैश्चिद् बुद्धिमद्भिर्मन्त्रयित्वा सर्वैरपि विद्वद्भिर्भोजस्य ताम्बूलवाहिनी दासी धनकनकादिना संमानिता। ते च तां प्रत्युपायमूचुः–'सुभगे, अस्मत्कीर्तिमसौ कालिदासो गलयति। अस्मासु कोऽपि नैतेन कलासाम्यं प्रवहते। वत्से, यथैनं राजा देशान्तरं निःसारयति, तद्भवत्या कर्तव्यम्' इति। दासी प्राह–'भवद्भ्यो हारं प्राप्त मया युष्मत्कार्यं क्रियते। तन्मम प्रथमं हारो दातव्यः' इति। ततः सा ताम्बूलवाहिनी तैर्दत्तं हारमादाय व्यचिन्तयत्। तथा हि–'बुधैरसाध्यं किं वास्ति।'

ततः समतिक्रामत्सु कतिपयवासरेषु दैवादेकाकिनि प्रसुप्ते राजनि चरणसंवाहनादिसेवामस्य विधाय तत्रैव कपटेन नेत्रे निमील्य सुप्ता। ततश्चरणचलनेन राजानमीषज्जागरूकं सम्यग्ज्ञात्वा प्राह– 'सखि मदनमालिनि, स दुरात्मा कालिदासो दासीवेषेणान्तःपुरं प्राप्य लीलादेव्या सह रमते।'

राजा तच्छ्रुत्वोत्थाय प्राह—'तरङ्गवति, किं जागर्षि' इति। सा च निद्राव्याकुलेव न शृणोति। राजा च तस्या अपध्वनिं श्रुत्वा व्यचिन्तयत्—'इयं तरङ्गवती निद्रायां स्वप्नवशं गता वासनावशाद् देव्या दुश्चरितं प्राह। स च स्त्रीवेषेणान्तःपुरमागच्छतीत्येतदपि सम्भाव्यते। को नाम स्त्रीचरितं वेद' इति।

ततश्चेत्थं विचार्य राजा परेद्युः प्रातरात्मनि कृत्रिमज्वरं विधाय शयानः कालिदासं दासीमुखेनानाय्य तदागमनान्तरं तयैव लीलादेवीं चानाय्य देवीं प्रत्यवदत्—'प्रिये, इदानीमेव मया पथ्यं भोक्तव्यम्' इति। इत्युक्ते सापि 'तथैव' इति पथ्यं गृहीत्वा राज्ञे रजतपात्रे दत्त्वा तत्र मुद्गदालीं प्रत्यवेषयत्। ततो राजापि तयोरभिप्रायं जिज्ञासमानः श्लोकार्धं प्राह—

'मुद्गदाली गदव्याली कवीन्द्र वितुषा कथम्'।

इति। ततः कालिदासो देव्यां समीपवर्तिन्यामप्युत्तरार्धं प्राह—

'अन्धोवल्लभसंयोगे जाता विगतकञ्चुकी'॥ 142॥

देवी तच्छ्रुत्वा परिज्ञातार्थस्वरूपा सरस्वतीव तदर्थं विदित्वा स्मेरमुखी मनागिव बभूव। राजाप्येतद् दृष्ट्वा विचारायमास—'इयं पुरा कालिदासे स्निह्यति। अनेनैतस्यां समीपवर्तिन्यामपीत्थमभ्यधायि। इयं च स्मेरमुखी बभूव। स्त्रीणां चरित्रं को वेद।

अश्वप्लुतं वासवगर्जितं च स्त्रीणां
च चित्तं पुरुषस्य भाग्यम्।
अवर्षणं चाप्यतिवर्षणं च देवो
न जानाति कुतो मनुष्यः॥ 143॥

किन्त्वयं ब्राह्मणो दारुणापराधित्वेऽपि न हन्तव्य इति विशेषेण सरस्वत्याः पुरुषावतारः' इति विचार्य कालिदासं प्राह—'कवे सर्वथाऽस्मद्देशे न स्थातव्यम्। किं बहुनोक्तेन। प्रतिवाक्यं किमपि न वक्तव्यम्।'

ततः कालिदासोऽपि वेगेनोत्थाय वेश्यागृहमेत्य तां प्रत्याह—'प्रिये, अनुज्ञां देहि। मयि भोजः कुपितः स्वदेशे न स्थातव्यमित्युवाच। अहह—

अघटितघटितं घटयति सुघटितघटितानि दुर्घटीकुरुते।
विधिरेव तानि घटयति यानि पुमान्नैव चिन्तयति॥ 144॥

किं च किमपि विद्वद्वृन्दचेष्टितमेवेति प्रतिभाति। तथा हि–

बहूनामल्पसाराणां समवायो दुरत्ययः।
तृणैर्विधीयते रज्जुर्बध्यन्ते तेन दन्तिनः'॥ 145॥

ततो विलासवती नाम वेश्यां तं प्राह–

'तदेवास्य परं मित्रं यत्र संक्रामति द्वयम्।
दृष्टे सुखं च दुःखं च प्रतिच्छायेव दर्पणे॥ 146॥

दयित, मयि विद्यमानायां किं ते राज्ञा किं वा राजदत्तेन वित्तेन कार्यम्। सुखेन निःशङ्कं तिष्ठ मद्गृहान्तःकुहरे' इति। ततः कालिदासस्तत्रैव वसन् कतिपयदिनानि गमयामास।

ततः कालिदासे गृहान्निर्गते राजानं लीलादेवी प्राह–'देव, कालिदासकविना साकं नितान्तं निबिडतमा मैत्री। तदिदानीमनुचितं कस्मात्कृतं यस्य देशेऽप्यवस्थानं निषिद्धम्।

इक्षोरग्रात्क्रमशः पर्वणि पर्वणि यथा रसविशेषः।
तद्वत्सज्जनमैत्री विपरीतानां च विपरीता॥ 147॥

शोकारातिपरित्राणं प्रीतिविस्रम्भभाजनम्।
केन रत्नमिदं सृष्टं मित्रमित्यक्षरद्वयम्'॥ 148॥

राजाप्येतल्लीलादेवीवचनमाकर्ण्य प्राह–'देवी, केनापि ममेत्यभ्यि-धायि यत्कालिदासो दासीवेषेणान्तःपुरमासाद्य देव्या सह रमते'। इति। मया चैतद्व्यापारजिज्ञासया कपटज्वरेणाऽयं भवती च वीक्षितौ। ततः समीपवर्ति-न्यामपि त्वय्युत्तरार्धमित्थं प्राह। तच्चाकर्ण्य त्वयापि कृतो हासः। ततश्च सर्वमेतद् दृष्ट्वा ब्राह्मणहननभीरुणा मया देशान्निःसारितः। त्वां च न दाक्षिण्येन हन्मि' इति।

ततो हासपरा देवी चमत्कृता प्राह 'निःशङ्कं– देव, अहमेव धन्या यस्यास्त्वं पतिरीदृशः, यत्त्वया भुक्तशीलाया मम मनः कथमन्यत्र गच्छति।

यतः सर्वकामिनीभिरपि कान्तोपभोगे स्मर्तव्योऽसि। अहह देव, त्वं यदि मां सतीमसतीं वाऽकृत्वा गमिष्यति, तर्ह्यहं सर्वथा मरिष्ये' इति।

ततो राजापि 'प्रिये, सत्यं वदसि' इति। ततः स नृपतिः पुरुषैरहिमानायमास। तप्तं लोहगोलकं कारयामास। धनुश्च सज्जं चक्रे। ततो देवी स्नाता निजपातिव्रत्यानलेन देदीप्यमाना सुकुमारगात्री सूर्यमवलोक्य प्राह–'जगच्चक्षुस्त्वं सर्वं वेत्सि।

जाग्रति स्वप्नकाले च सुषुप्तौ यदि मे पतिः।
भोज एव परं नान्यो मच्चित्ते भावितोऽस्ति न'॥ 149॥

इत्युक्त्वा ततो दिव्यत्रयं चक्रे। ततः शुद्धायामन्तःपुरे लीलावत्यां लज्जानतशिरा नृपतिः पश्चात्तापातुरः 'देवि, क्षमस्व पापिष्ठं माम्। किं वदामि', इति कथयामास।

राजा च तदाप्रभृति न निद्राति, न च भुङ्क्ते, न केनचिद्वक्ति। केवलमुद्विग्नमनाः स्थित्वा दिवानिशं प्रविलपति–किं नाम मम लज्जा, किं नाम दाक्षिण्यम्, क्व गाम्भीर्यम्। हा हा कवे, कविकोटिमुकुटमणे, कालिदास, हा मम प्राणसम, हा मूर्खेण किमश्राव्यं श्रावितोऽसि। अवाच्यमुक्तोऽसि' इति। प्रसुप्त इव, ग्रहग्रस्त इव, मायाविध्वस्त इव पपात। ततः प्रियाकरकमलसिक्तजलसंजातसंज्ञः कथमपि तामेव प्रियां वीक्ष्य स्वात्मनिन्दापरः परमतिष्ठत्। ततो निशानाथहीनेव निशा, दिनकरहीनेव दिनश्रीः, वियोगिनीव योषित्, शक्ररहितेव सुधर्मा, न भाति भोजभूपालसभा रहिता कालिदासेन। तदा प्रभृति न कस्यचिन्मुखे काव्यम्। न कोऽपि विनोदसुन्दरं वचो वक्ति।

ततो गतेषु केषुचिद्दिनेषु कदाचिद्राकापूर्णेन्दुमण्डलं पश्यन्पुरश्च लीलादेवीमुखेन्दुं वीक्ष्य प्राह–

'तुलणं अणु अणुसरइ ग्लौसो मुहचन्दस्स खु एदाए।*

कुत्र च पूर्णेऽपि चन्द्रमसि नेत्रविलासाः, कदा वाचो विलसितम्'।

प्रातश्चोत्थितः प्रातर्विधीन्विधाय सभां प्राप्य राजा विद्वद्वरान्प्राह–'अहो कवयः, इयं समस्या पूर्यताम्।' ततः पठति–

* संस्कृत छाया, पृ. 140

'तुलणं अणु अणुसरइ ग्लौसो मुहचन्दस्स खु एदाए।'*

पुनराह—'इयं चेत्समस्या न पूर्यते भवद्भिर्मद्देशे न स्थातव्यम्' इति।

ततो भीतास्ते कवयः स्वानि गृहाणि जग्मुः। चिरं विचारितेऽप्यर्थे कस्यापि नार्थसङ्गतिः स्फुरति। अतः सर्वैर्मिलित्वा बाणः प्रेषितः। ततः सभां प्राप्याह राजानम्—'देव, सर्वैर्विद्वद्भिरहं प्रेषितः। अष्टवासरानवधिमभिधेहि। नवमेऽह्नि पूरयिष्यन्ति ते। न चेद्देशान्निर्गच्छन्ति।' ततो राजा 'अस्तु' इत्याह। ततो बाणस्तेषां विज्ञाप्य राजसन्देशं स्वगृहमगात्। ततोऽष्टौ दिवसा अतीताः। अष्टमदिनरात्रौ मिलितेषु तेषु कविषु बाणः प्राह—'अहो तारुण्यमदेन राजसंमानमदेन किञ्चिद्विद्यामदेन कालिदासो निःसारितोऽभवत्। समे भवन्तः सर्व एव कवयः। विषमे स्थाने तु स एक एव कविः। तं निःसार्येदानीं किं नाम महत्त्वमासीत्। स्थिते तस्मिन् कथमियमवस्थास्माकं भवेत्। तन्निःसारे या या बुद्धिः कृता सा भवद्भिरेवानुभूयते।

सामान्यविप्रविद्वेषे कुलनाशो भवेत्किल।
उमारूपस्य विद्वेषे नाशः कविकुलस्य हि'॥ 150॥

ततः सर्वे गाढं कलहायन्ते स्म मयूरादयश्च। ततस्ते सर्वान्कलहान्निवार्य सद्यः प्राहुः—'अद्यैवावधिः पूर्णः। कालिदासमन्तरेण न कस्यचित्सामर्थ्यमस्ति समस्यापूरणे।

सङ्ग्रामे सुभटेन्द्राणां कवीनां कविमण्डले।
दीप्तिर्वा दीप्तिहानिर्वा मुहूर्तेनैव जायते॥ 151॥

यदि रोचते ततोऽद्यैव मध्यरात्रे प्रमुदितचन्द्रमसि निगूढमेव गच्छामः सम्पत्तिसम्भारमादाय। यदि न गम्यते श्वो राजसेवका अस्मान् बलान्निःसारयन्ति। तदा देहमात्रेणैवास्माभिर्गन्तव्यम्। तदद्य मध्यरात्रे गमिष्यामः' इति सर्वे निश्चित्य गृहमागत्य बलीवर्दव्यूढेषु शकटेषु सम्पद्भारमारोप्य रात्रावेव निष्क्रान्ताः। ततः कालिदासस्तत्रैव रात्रौ विलासवतीसदनोद्याने वसन् पथि गच्छतां तेषां गिरं श्रुत्वा वेश्याचेटीं प्रेषितवान्—'प्रिये, पश्य क एते गच्छन्ति ब्राह्मणा इति।' ततः सा समेत्य सर्वानपश्यत्। उपेत्य च कालिदासं प्राह—

* संस्कृत छाया, पृ. 140

'एकेन राजहंसेन या शोभा सरसोऽभवत्।
न सा बकसहस्त्रेण परितस्तीरवासिना।। 152।।

सर्वे च बाणमयूरप्रमुखाः पलायन्ते, नात्र संशयः' इति।

कालिदासः–प्रिये, वेगेन वासांसि भवनादानय, यथा पलायमानान्विप्रान् रक्षामि।

किं पौरुषं रक्षति यन्न वाऽऽर्त्तान्
किं वा धनं नार्थिजनाय यत्स्यात्।
सा किं क्रिया या न हितानुबद्धा
किं जीवितं साधुविरोधि यद्वै'।। 153।।

ततः स कालिदासश्चारणवेषं विधाय खड्गमुद्वहन्क्रोशार्धमुत्तरं गत्वा तेषामभिमुखमागत्य सर्वान्निरूप्य 'जय' इत्याशीर्वचनमुदीर्य पप्रच्छ चारणभाषया– 'अहो विद्यावारिधयः, भोजसभायां संप्राप्तमहत्त्वातिशयाः, बृहस्पतय इव सम्भूय कुत्र जिगमिषवो भवन्तः। कच्चित्कुशलं वः। राजा च कुशली। अस्माभिः काशीदेशादागम्यते भोजदर्शनाय वित्तस्पृहया च।' ततः परिहासं कुर्वन्तः सर्वे निष्क्रान्ताः।

ततस्तेषु कश्चित्तद्गिरमाकर्ण्य तं च चारणं मन्यमानः कुतूहलेन विपश्चित्प्राह–'अहो चारण, शृणु। त्वया पश्चादपि श्रोष्यत एव। अतो मयाऽद्यैवोच्यते। राज्ञा किलैभ्यो विद्वद्भ्यः पूरणाय समस्योक्ता। तत्पूरणाशक्ताः कुपितस्य राज्ञो भयाद्देशान्तरे क्वचिज्जिगमिषव एते निश्चक्रमुः।'

चारणः–राज्ञा का वा समस्या प्रोक्ता।

ततः पठति स विपश्चित्–

'तुलणं अणु अणुसरइ ग्लौसो मुहचन्दस्स खु एदाए।'*

चारणः–एतत्साध्वेव गूढार्थम्। एतत्पूर्णेन्दुमण्डलं वीक्ष्य राज्ञाऽपाठि। एतस्योत्तरार्धमिदं भवितुमर्हति–

अणु इदि वण्णयदि कहं अणुकिदि तस्य प्पडिपदि चन्दस्स।।*

* संस्कृत छाया, पृ. 140

सर्वे श्रुत्वा चमत्कृताः। ततश्चारणः सर्वान्प्रणिपत्य निर्ययौ। ततः सर्वे विचारयन्ति स्म–'अहो, इयं साक्षात्सरस्वती पुंरूपेण सर्वेषामस्माकं परित्राणायाऽऽगता। नायं भवितुमर्हति मनुष्यः। अद्यापि किमपि केनाऽपि न ज्ञायते। ततः शीघ्रमेव गृहमासाद्य शकटेभ्यो भारमुत्तार्य प्रातः सर्वैरपि राजभवनमागन्तव्यम्। न चेच्चारण एव निवेदयिष्यति। ततो झटिति गच्छामः।' इति योजयित्वा तथा चक्रुः। ततो राजसभां गत्वा राजानमालोक्य 'स्वस्ति' इत्युक्त्वा विविशुः।

ततो बाणः प्राह–'देव, सर्वज्ञेन यत्त्वया पठ्यते तदीश्वर एव वेद। केऽमी वराका उदरम्भरयो द्विजाः। तथाप्युच्यते–

तुलणं अणु अणुसरइ ग्लौसो
मुहचन्दस्स खु एदाए।
अणु इदि वण्णयदि कहं अणुकिदि
तस्स प्पडिपदि चन्दस्स'॥ 154॥

तुलनामन्वनुसरति ग्लौः स मुखचन्द्रस्य खल्वेतस्याः।
अन्विति वर्ण्यते कथमनुकृतिस्तस्य प्रतिपदि चन्द्रस्य॥

राजा यथाव्यसितस्याभिप्रायं विदित्वा 'सर्वथा कालिदासो दिवसप्राप्यस्थाने निवसति। उपायैश्च सर्वं साध्यम्' इत्याह। ततो बाणाय रुक्माणां पञ्चदशलक्षाणि प्रादात्। सन्तोषमिषेणैव विद्वद्वृन्द स्वं स्वं सदनं प्रति प्रेषितम्।

गते च विद्वन्मण्डले शनैर्द्वारपालायादिष्टं राज्ञा–'यदि केचद् द्विजन्मान आयास्यन्ति, तदा गृहमध्यमानेतव्याः।' ततः सर्वमपि वित्तमादाय स्वगृहं गते बाणे केचित्पण्डिता आहुः–'अहो, बाणेनानुचितं व्यधायि। यदसावप्यस्माभिः सह नगरान्निष्क्रान्तोऽपि सर्वमेव धनं गृहीतवान्। सर्वथा भोजस्य बाणस्वरूपं ज्ञापयिष्यामः। यथा कोऽपि नाऽन्यायं विधत्ते विद्वत्सु।' ततस्ते राजानमासाद्य ददृशुः। राजा तान्प्राह–'एतत्स्वरूपं ज्ञातमेव। भवद्भिर्यथार्थतया वाच्यम्' ततस्तैः सर्वमेव निवेदितम्।

ततो राजा विचारितवान्–'सर्वथा कालिदासश्चारणवेषेण मद्भयान्मदीयनगरमध्यास्ते।' ततश्चाङ्गरक्षकानादिदेश–'अहो, पलाय्यन्तां[1] तुरङ्गाः।' ततः क्रीडोद्यानप्रयाणे पटहध्वनिरभवत्। 'अहो, इदानीं राजा देवपूजाव्यग्र इति शुश्रुमः। पुनरिदानीं क्रीडोद्यानं गमिष्यति' इति व्याकुलाः सर्वे भटाः सम्भूय पश्चाद्यान्ति।

ततो राजा तैर्विद्वद्भिः सहाश्वमारुह्य रात्रौ यत्र चारणप्रसङ्गः समजनि, तत्प्रदेशं प्राप्तः। ततो राजा चरतां चौराणां पदज्ञाननिपुणानाहूय प्राह–'अनेन वर्त्मना यः कोऽपि रात्रौ निर्गतस्तस्य पदान्यद्यापि दृश्यन्ते, तानि पश्यन्तु' इति। ततो राजा प्रतिपण्डितं लक्षं दत्त्वा तान्प्रेषयित्वा च स्वभवनमगात्। ते च पदज्ञा राजाज्ञया सर्वतश्चरन्तोऽपि तमनवेक्षमाणा विमूढा इवासन्।

ततश्च लम्बमाने सवितरि कामपि दासीमेकं पदत्राणं त्रुटितमादाय चर्मकारवेश्म गच्छन्तीं दृष्ट्वा तुष्टा इवासन्। ततस्तत्पदत्राणं तया चर्मकारकरे न्यस्तं वीक्ष्य तैश्च तस्याः करान्मिषेणादाय रेणुपूर्णे पथि मुक्त्वा तदेव पदं तस्येति ज्ञात्वा तां च दासीं क्रमेण वेश्याभवनं विशन्तीं वीक्ष्य तस्या मन्दिरं परितो वेष्टयामासुः। ततश्च तैः क्षणेन भोजश्रवणपथविषयमभिज्ञानवार्ता प्रापिता। ततो राजा सपौरः सामात्यः पद्भ्यामेव विलासवतीभवनमगात्।

ततस्तच्छ्रुत्वा विलासवतीं प्राह कालिदासः–'प्रिये, मत्कृते किं कष्टं ते, पश्य।

विलासवती–सुकवे,

उपस्थिते विप्लव एव पुंसां
समस्तभावः परिमीयतेऽतः।
अवाति वायौ न हि तूलराशेर्गिरिश्च
कश्चित्प्रतिभाति भेदः।। 155।।

मित्रस्वजनबन्धूनां बुद्धेर्धैर्यस्य चात्मनः।
आपन्निकषपाषाणे जनो जानाति सारताम्।। 156।।

अप्रार्थितानि दुःखानि यथैवायान्ति देहिनः।
सुखानि च तथा मन्ये दैन्यमत्रातिरिच्यते।। 157।।

1. प्रसाध्यन्तां

सुकवे, राज्ञा त्वयि मनाङ्निराकृते वचसापि मया सहेदं दासीवृन्दं प्रदीप्तवह्नौ पतिष्यति।

कालिदासः—प्रिये, नैवं मन्तव्यम्। मां दृष्ट्वा विकासीकृतास्यो भोजः पादयोः पतिष्यति।

ततो वेश्यागृहं प्रविश्य भोजः कालिदासं दृष्ट्वा ससम्भ्रममाश्लिष्य पादयोः पतति। स राजा पठति च—

'गच्छतस्तिष्ठतो वापि जाग्रतः स्वपतोऽपि वा।
मा भून्मनः कदाचिन्मे त्वया विरहितं कवे'॥ 158॥

कालिदासस्तच्छ्रुत्वा व्रीडावनताननस्तिष्ठति। राजा च कालिदास-मुखमुन्नमय्याह—

'कालिदास कलावास दासवच्चालितो यदि।
राजमार्गे व्रजन्नत्र परेषां तत्र का त्रपा॥ 159॥

धन्यां विलासिनीं[1] मन्ये कालिदासो यदेतया।
निबद्धः स्वगुणैरेष शकुन्त इव पञ्जरे'॥ 160॥

राजा नेत्रयोर्हर्षाश्रु मार्जयति कराभ्यां कालिदासस्य। ततस्तत्प्राप्तिप्रसन्नो राजा ब्राह्मणेभ्यः प्रत्येकं लक्षं ददौ। निजतुरगे च कालिदासमारोप्य सपरिवारो निजगृहं ययौ।

कियत्यपि कालेऽतिक्रान्ते राजा कदाचित्सन्ध्यामालोक्य प्राह—

'परिपतति पयोनिधौ पतङ्गः'

ततो बाणः प्राह—

'सरसिरुहामुदरेषु मत्तभृङ्गः।'

ततो महेश्वरकविः—

'उपवनतरुकोटरे विहङ्गः'

ततः कालिदासः प्राह—

1. ते दयितां

'युवतिजनेषु. शनैः शनैरनङ्गः'॥ 161 ॥

तुष्टो राजा लक्षं लक्षं ददौ। चतुर्थचरणस्य लक्षद्वयं ददौ।

कदाचिद्राजा बहिरुद्यानमध्ये मार्गं प्रत्यागच्छन्तं कमपि विप्रं ददर्श। तस्य करे चर्ममयं कमण्डलुं वीक्ष्य तं चातिदरिद्रं ज्ञात्वा मुखश्रिया विराजमानं चावलोक्य तुरङ्गं तदग्रे विधायाह—'विप्र, चर्मपात्रं किमर्थं पाणौ वहसि' इति। स च विप्रः 'नूनं मुखशोभया मृदूक्त्या च भोजः' इति विचार्याह—'देव, वदान्यशिरोमणौ भोजे पृथ्वीं शासति लोहताम्राभावः समजनि। तेन चर्ममयं पात्रं वहामि' इति।

राजा—'भोजे शासति लोहताम्राभावे को हेतुः।

तदा विप्रः पठति—

'अस्य श्रीभोजराजस्य द्वयमेव सुदुर्लभम्।
शत्रूणां शृङ्खलैर्लोहं ताम्रं शासनपत्रकैः'॥ 162॥

ततस्तुष्टो राजा प्रत्यक्षरं लक्षं ददौ।

कदाचिद् द्वारपालः प्राह—'धारेन्द्र, दूरदेशादागतः कश्चिद्विद्वान्द्वारि तिष्ठति। तत्पत्नी च। तत्पुत्रः सपत्नीकः। अतोऽतिपवित्रं विद्वत्कुटुम्बं द्वारि तिष्ठति' इति।

राजा—अहो गरीयसी शारदाप्रसादपद्धतिः।

तस्मिन्नवसरे गजेन्द्रपाल आगत्य राजानं प्रणम्य प्राह—'भोजेन्द्र, सिंहलदेशाधीश्वरेण सपादशतं गजेन्द्राः प्रेषिताः षोडश महामणयश्च।'

ततो बाणः प्राह—

'स्थितिः कवीनामिव कुञ्जराणां
स्वमन्दिरे वा नृपमन्दिरे वा।
गृहे गृहे किं मशका इवैते
भवन्ति भूपालविभूषिताङ्गाः'॥ 163॥

ततो राजा गजानामवलोकनाय बहिरगात्। ततस्तद्विद्वत्कुटुम्बं वीक्ष्य चोलपण्डितो राज्ञः प्रियोऽहमिति गर्वं दधार–यन्मया राजभवनमध्यं गम्यते विद्वत्कुटुम्बं तु द्वारपालज्ञापितमपि बहिरास्ते। तदा राजा तच्चेतसि गर्वं विदित्वा चोलपण्डितं सौधाङ्गणान्निःसातिरवान्।

काशीदेशवासी कोऽपि तण्डुलदेवनामा राज्ञे 'स्वस्ति' इत्युक्त्वा-तिष्ठत्। राजा च तं पप्रच्छ–'सुमते, कुत्र निवासः।

तण्डुलदेवः–

वर्तते यत्र सा वाणी कृपाणी रिक्तशाखिनः।
श्रीमन्मालवभूपाल तत्र देशे वसाम्यहम्'॥ 164॥

तुष्टो राजा तस्मै गजेन्द्रसप्तकं ददौ।

ततः कोऽपि विद्वानागत्य प्राह–

'तपसः सम्पदः प्राप्यास्तत्तपोऽपि न विद्यते।
येन त्वं भोज कल्पद्रुर्दृग्गोचरमुपैष्यसि'॥ 165॥

तस्मै राजा दश गजेन्द्रान्ददौ।

ततः कश्चिद् ब्राह्मणपुत्रो भूम्भारवं कुर्वाणोऽभ्येति। ततः सर्वे सम्भ्रान्ताः। 'कथं भूम्भारवं करोषि' इति राज्ञा स्वदृग्गोचरमानीतः पृष्टः। स प्राह–

'देव त्वद्दानपाथोधौ दारिद्र्यस्य निमज्जतः।
न कोऽपि हि करालम्बं दत्ते मत्तेभदायक'॥ 166॥

ततस्तुष्टो राजा तस्मै त्रिंशद्गजेन्द्रान्प्रादात्।

ततः प्रविशति पत्नीसहितः कोऽपि विलोचनो विद्वान्। 'स्वस्ति' इत्युक्त्वा प्राह–

'निजानपि गजान्भोजं ददानं प्रेक्ष्य पार्वती।
गजेन्द्रवदनं पुत्रं रक्षत्यद्य पुनः पुनः'॥ 167॥

ततो राजा सप्तगजांस्तस्मै ददौ।

ततो राजा विद्वत्कुटुम्बं तदैव पुरतः स्थितं वीक्ष्य ब्राह्मणं प्राह–

'क्रियासिद्धिः सत्त्वे भवति महतां नोपकरणे।'

वृद्धद्विजः प्राह–

'घटो जन्मस्थानं मृगपरिजनो भूर्जवसनम्
वने वासः कन्दादिकमशनमेवंविधगुणः।
अगस्त्यः पाथोधिं यदकृत कराम्भोजकुहरे
क्रियासिद्धिः सत्त्वे भवति महतां नोपकरणे'॥ 168॥

ततो राजा बहुमूल्यानपि षोडश मणींस्तस्मै ददौ। ततस्तत्पत्नीं प्राह राजा–'अम्ब, त्वमपि पठ।'

देवी–

'रथस्यैकं चक्रं भुजगयमिताः सप्ततुरगा
निरालम्बो मार्गश्चरणविकलः सारथिरपि।
रविर्यात्येवान्तं प्रतिदिनमपारस्य नभसः
क्रियासिद्धिः सत्त्वे भवति महतां नोपकरणे॥ 169॥

राजा तुष्टः सप्तदश गजान्सप्त रथांश्च तस्यै ददौ। ततो विप्रपुत्रं प्राह राजा–'विप्रसुत, त्वमपि पठ।'

विप्रसुतः–

'विजेतव्या लङ्का चरणतरणीयो जलनिधि-
र्विपक्षः पौलस्त्यो रणभुवि सहायाश्च कपयः।
पदातिर्मर्त्योऽसौ सकलमवधीद्राक्षसकुलं
क्रियासिद्धिः सत्त्वे भवति महतां नोपकरणे॥ 170॥

तुष्टो राजा विप्रसुतायाष्टादश गजेन्द्रान्प्रादात्। ततः सुकुमारमनोज्ञ-निखिलाङ्गावयवालङ्कृतां शृङ्गाररसोपजातमूर्तिमिव चम्पकलतामिव

लावण्यगात्रयष्टिं विप्रस्नुषां वीक्ष्य 'नूनं भारत्याः काऽपि लीलाकृतिरियम्' इति चेतसि नमस्कृत्य राजा प्राह—'मातः त्वमप्याशिषं वद।'

विप्रस्नुषा—देव, शृणु।

धनुः पौष्पं मौर्वी मधुकरमयी चञ्चलदृशां
दृशां कोणो बाणः सुहृदपि जडात्मा हिमकरः।
स्वयं चैकोऽनङ्गः सकलभुवनं व्याकुलयति
क्रियासिद्धिः सत्त्वे भवति महतां नोपकरणे॥ 171॥

चमत्कृतो राजा लीलादेवीभूषणानि सर्वाण्यादाय तस्यै ददौ। अनर्घ्यांश्च सुवर्णमौक्तिकवैडूर्यप्रवालांश्च प्रददौ।

ततः कदाचित्सीमन्तनामा कविः प्राह—

'पन्थाः संहर दीर्घतां त्यज निजं तेजः कठोरं रवे
श्रीमन्विन्ध्यगिरे प्रसीद सदयं सद्यः समीपे भव।
इत्थं दूरपलायनश्रमवतीं दृष्ट्वा निजप्रेयसीं
श्रीमन्भोज तव द्विषः प्रतिदिनं जल्पन्ति मूर्च्छन्ति च'॥ 172॥

तस्मिन्नेव क्षणे कश्चित्सुवर्णकारः प्रान्तेषु पद्मरागमणिमण्डितं सुवर्णभाजनमादाय राज्ञः पुरो मुमोच। ततो राजा सीमन्तकविं प्राह—'सुकवे, इदं भाजनं कामपि श्रियं दर्शयति।' ततः कविराह—

'धारेश त्वत्प्रतापेन पराभूतस्त्विषांपतिः।
सुवर्णपात्रव्याजेन देव त्वामेव सेवते'॥ 173॥

ततस्तुष्टो राजा तदेव पात्रं मुक्ताफलैरापूर्य प्रादात्।

कदाचिद्राजा मृगयारसेन पुरः पलायमानं वराहं दृष्ट्वा स्वयमेकाकितया दूरं वनान्तमासादितवान्। तत्र कञ्चन द्विजवरमवलोक्य प्राह—'द्विज, कुत्र गन्तासि?'

द्विजः—धारानगरम्।

भोजः—किमर्थम्?

द्विजः—भोजं द्रष्टुं द्रविणेच्छया। स पण्डिताय दत्ते, अहमपि मूर्खं न याचे।

भोजः—विप्र, तर्हि त्वं विद्वान् कविर्वा?

द्विजः—महाभाग, कविरहम्।

भोजः—तर्हि किमपि पठ।

द्विजः—भोजं विना मत्पदसरणिं न कोऽपि जानाति।

राजा—ममाप्यमरवाणीपरिज्ञानमस्ति। रजा च मयि स्निह्यति त्वद्गुणं च श्रावयिष्यामि। किमपि कलाकौशलं दर्शय।

विप्रः—किं वर्णयामि?

राजा—कलमानेतान्वर्णय।

विप्रः—

कलमाः पाकविनम्रा मूलतलाघ्रातसुरभिकह्लाराः।
पवनाकम्पितशिरसः प्रायः कुर्वन्ति परिमलश्लाघाम्॥ 174॥

राजा तस्मै सर्वाभरणान्युत्तार्य ददौ।

ततः कदाचित्कुम्भकारवधू राजगृहमेत्य द्वारपालं प्राह—'द्वारपाल, राजा द्रष्टव्यः।' स आह—'किं ते राज्ञा कार्यम्'। सा चाह—'न तेऽभिधास्यामि। नृपाग्र एव कथयामि।' स सभायामागत्य प्राह—'देव कुम्भकारप्रिया काचिद्राज्ञो दर्शनाकाङ्क्षिणी न वक्ति मत्पुरः कार्यम्। भवत्पुरतः कथयिष्यति।'

राजा—प्रवेशय।

सा चागत्य नमस्कृत्य वक्ति—

'देव मृत्खननाद् दृष्टं निधानं वल्लभेन मे।
स पश्यन्नेव तत्राऽऽस्ते त्वां ज्ञापयितुमभ्यगाम्'॥ 175॥

राजा च चमत्कृतो निधानकलशमानाययामास। तद्द्वारमुद्घाट्य यावत्पश्यति राजा तावत्तदन्तर्वर्तिद्रव्यमणिप्रभामण्डलमालोक्य कुम्भकारं पृच्छति—'किमेतत्कुम्भकार'। स चाह—

'राजचन्द्रं समालोक्य त्वां तु भूतलमागतम्।
रत्नश्रेणीमिषान्मन्ये नक्षत्राण्यभ्युपागमन्'।। 176।।

राजा कुम्भकारमुखाच्छ्लोकं लोकोत्तरमाकर्ण्य चमत्कृतस्तस्मै सर्वं ददौ।

ततः कदाचिद्राजा रात्रावेकाकी सर्वतो नगरचेष्टितं पश्यन्पौरगिरमाकर्णयंश्चचार। तदा क्वचिद्वैश्यगृहे वैश्यः स्वप्रियां प्राह—'प्रिये, राजा स्वल्पदानरतोऽप्युज्जयिनीनगराधिपतेर्विक्रमार्कस्य दानप्रतिष्ठां काङ्क्षते। सा किं भोजेन प्राप्यते। कैश्चित्स्तोत्रपरायणैर्मयूरादिकविभिर्महिमानं प्रापितो भोजः। परन्तु भोजो भोज एव। प्रिये, शृणु—

आबद्धकृत्रिमसटाजटिलांसभित्ति-
रारोपितो यदि पदं मृगवैरिणः श्वा।
मत्तेभकुम्भतटपाटनलम्पटस्य
नादं करिष्यति कथं हरिणाधिपस्य'।। 177।।

राजा श्रुत्वा विचारितवान्—'असौ सत्यमेव वदति।' ततः पुनः पुनर्वदन्तं शृणोति—

'आपन्न एव पात्रं देहीत्युच्चारणं न वैदुष्यम्।
उपपन्नमेव देयं त्यागस्ते विक्रमार्क किमु वर्ण्यः।। 178।।

विक्रमार्क त्वया दत्तं श्रीमन्ग्रामशताष्टकम्।
अर्थिने द्विजपुत्राय भोजे त्वन्महिमा कुतः।। 179।।

प्राप्नोति कुम्भकारोऽपि महिमानं प्रजापतेः।
यदि भोजोऽप्यवाप्नोति प्रतिष्ठां तव विक्रम'।। 180।।

राजा लोके सर्वोऽपि जनः स्वगृहे निःशङ्कं सत्यं वदति। मया वान्येन वा सर्वथा विक्रमार्कप्रतिष्ठा न शक्या प्राप्तुम्।

ततः कदाचित्कश्चित्कवी राजद्वारं समागत्याह—'राजा द्रष्टव्यः' इति। ततः प्रवेशितो राजानं 'स्वस्ति' इत्युक्त्वा तदाज्ञयोपविष्टः पठति—

'कविषु वादिषु भोगिषु देहिषु
द्रविणवत्सु सतामुपकारिषु।
धनिषु धन्विषु धर्मधनेष्वपि
क्षितितले न हि भोजसमो नृपः'।। 181।।

राजा तस्मै लक्षं प्रादात्। सर्वाभरणान्युत्तार्य तुरगं च ददौ।

ततः कदाचिद्राजा क्रीडोद्यानं प्रस्थितो मध्येमार्गं कामपि मलिनां-शुकवसनां तीक्ष्णकरतपनकरविदग्धमुखारविन्दां सुलोचनां लोचनाभ्यामालोक्य पप्रच्छ–

'का त्वं पुत्रि'

सा च तं श्रीभोजभूपालं मुखश्रिया विदित्वा तुष्टा प्राह–

'नरेन्द्र, लुब्धकवधूः'

हर्षसम्भृतो राजा तस्याः पटुप्रबन्धानुबन्धेनाह–

'हस्ते किमेतत्'

सा चाह–

'पलम्'

राजाह–

'क्षामं किम्'

सा चाह– 'सहजं ब्रवीमि नृपते यद्यादराच्छ्रूयते।

गायन्ति त्वदरिप्रियाश्रुतटिनीतीरेषु सिद्धाङ्गनाः।
गीतान्धा न तृणं चरन्ति हरिणास्तेनामिषं दुर्बलम्'।। 182।।

राजा तस्यै प्रत्यक्षरं लक्षं प्रादात्।

ततो गृहमागत्य गवाक्षं उपविष्टः। तत्र चासीनं भोजं दृष्ट्वा राजवर्त्मनि स्थित्वा कश्चिदाह–देव, सकलमहीपाल, आकर्णय।

इतश्चेतश्चाद्भिर्विघटिततटः सेतुरुदरे[1]
धरित्री दुर्लङ्घ्या बहुलहिमपङ्को गिरिरयम्।

---

1. सेतुरुदधेः

इदानीं निर्वृत्ते करितुरगनीराजनविधौ
न जाने यातारस्तव च रिपवः केन च पथा'॥ 183॥

तुष्टो भोजो वर्त्मनि स्थितायैव तस्मै वंश्यान्पञ्च गजान्ददौ।

कदाचिद्राजा मृगयारसपराधीनो हयमारुह्य प्रतस्थे।

ततो नदीं समुत्तीर्णं शिरस्यारोपितेन्धनम्।
वेषेण ब्राह्मणं ज्ञात्वा राजा पप्रच्छ सत्वरम्॥ 184॥

'कियन्मानं जलं विप्र'

स आह–

'जानुदघ्नं नराधिप।'

चमत्कृतो राजाह–

'ईदृशी किमवस्था ते'

स आह–

'न हि सर्वे भवादृशाः'॥ 185॥

राजा प्राह कुतूहलात्–'विद्वन्, याचस्व कोशाधिकारिणम्। लक्षं दास्यति मद्वचसा।' ततो विद्वान्काष्ठं भूमौ निक्षिप्य कोशाधिकारिणं गत्वा प्राह–'महाराजेन प्रेषितोऽहम्। लक्षं मे दीयताम्'। ततः स हसन्नाह–'विप्र, भवन्मूर्तिर्लक्षं नार्हति'। ततो विषादी स राजानमेत्याह–'स पुनर्हसति देव, नार्पयति।' राजा कुतूहलादाह–'लक्षद्वयं प्रार्थय। दास्यति।' पुनरागत्य विप्रः 'लक्षद्वयं देयमिति राज्ञोक्तम्' इत्याह। स पुनर्हसति। विप्रः पुनरपि भोजं प्राप्याह–'स पापिष्ठो मां हसति, नार्पयति।' ततः कौतूहली लीलानिधिर्महीं शासञ्श्रीभोजराजः प्राह–'विप्र, लक्षत्रयं याचस्व। अवश्यं स दास्यति।' स पुनरेत्य प्राह–'राजा मे लक्षत्रयं दापयति'। स पुनर्हसति। ततः क्रुद्धो विप्रः पुनरेत्याह–देव, स नार्पयत्येव।

राजन्कनकधाराभिस्त्वयि सर्वत्र वर्षति।
अभाग्यच्छत्रसंच्छन्ने मयि नायान्ति बिन्दवः॥ 186॥

त्वयि वर्षति पर्जन्ये सर्वे पल्लविता द्रुमाः।
अस्माकमर्कवृक्षाणां पूर्वपत्रेदपि संशयः॥ 187॥

एकमस्य परमेकमुद्यमं निस्त्रपत्वमपरस्य वस्तुनः।
नित्यमुष्णमहसा निरस्यते नित्यमन्धतमसं प्रधावति'॥ 188॥

ततो राजा प्राह–

'क्रोधं मा कुरु मद्वाक्याद् गत्वा कोशाधिकारिणम्।
लक्षत्रयं गजेन्द्राश्च दश ग्राह्यास्त्वया द्विज'॥ 189॥

ततस्त्वङ्गरक्षकं प्रेषयति। ततः कोशाधिकारी धर्मपत्रे लिखति–

'लक्षं लक्षं पुनर्लक्षं मत्ताश्च दश दन्तिनः।
दत्ता भोजेन तुष्टेन जानुदघ्नप्रभाषणात्'॥ 190॥

ततः सिंहासनमलङ्कुर्वाणे श्रीभोजनृपतौ द्वारपाल आगत्य प्राह–'राजन्, कोऽपि शुकदेवनामा कविर्दारिद्र्यविडम्बितो द्वारि वर्तते'। राजा बाणं प्राह–'पण्डितवर, सुकवे, तत्त्वं विजानासि'?

बाणः–देव, शुकदेवपरिज्ञानसामर्थ्याभिज्ञः कालिदास एव, नान्यः।

राजा–'सुकवे, सखे कालिदास, किं विजानासि शुकदेवकविम्' इत्याह।

कालिदासः–देव,

सुकविद्वितयं जाने निखिलेऽपि महीतले।
भवभूतिः शुकश्चायं वाल्मीकिस्त्रितयोऽनयोः॥ 191॥

ततो विद्वद्वृन्दवन्दिता सीता प्राह–

'काकाः किं किं न कुर्वन्ति क्रोङ्कारं यत्र तत्र वा।
शुक एव परं वक्ति नृपहस्तोपलालितः'॥ 192॥

ततो मयूरः प्राह–

'अपृष्टस्तु नरः किञ्चिद्यो ब्रूते राजसंसदि।
न केवलमसम्मानं लभते च विडम्बनाम्'॥ 193॥

देव, तथाप्युच्यते–

'का सभा किं कविज्ञानं रसिकाः कवयश्च के।
भोज किं नाम ते दानं शुकस्तुष्यति येन सः॥ 194॥

तथापि भवनद्वारमागतः शुकदेवः सभायामानेतव्य एव।'

तदा राजा विचारयति। शुकदेवसामर्थ्यं श्रुत्वा हर्षविषादयोः पात्रमासीत्। महाकविरवलोकित इति हर्षः। अस्मै सत्कविकोटिमुकुटमणये किं नाम देयमिति च विषादः। 'भवतु। द्वारपाल, प्रवशय।' तत आयान्तं शुकदेवं दृष्ट्वा राजा सिंहासनादुदतिष्ठत्। सर्वे पण्डितास्तं शुकदेवं प्रणम्य सविनयमुपवेशयन्ति। स च राजा तं सिंहासन उपवेश्य स्वयं तदाज्ञयोपविष्टः।

ततः शुकदेवः प्राह–'देव, धारानाथ, श्रीविक्रमनरेन्द्रस्य या दानलक्ष्मीस्त्वामेव सेवते। देव, मालवेन्द्र एव धन्यः, नान्ये भूभुजः, यस्य ते कालिदासादयो महाकवयः सूत्रबद्धाः पक्षिण इव निवसन्ति।' ततः पठति–

'प्रतापभीत्या भोजस्य तपनो मित्रतामगात्।
और्वो वाडवतां धत्ते तडित्क्षणिकतां गता'॥ 195॥

राजा–तिष्ठ सुकवे, नापरः श्लोकः पठनीयः।

'सुवर्णकलशं प्रादाद्दिव्यमाणिक्यसम्भृतम्।
भोजः शुकाय सन्तुष्टो दन्तिनश्च चतुःशतम्'॥ 196॥

इति पुण्यपत्रे लिखित्वा सर्वं दत्त्वा कोशाधिकारी शुकं प्रस्थापयामास। राजा स्वदेशं प्रति गतं शुकं ज्ञात्वा तुतोष। सा च परिषत्सन्तुष्टा।

अन्यदा वर्षाकाले वासुदेवो नाम कविः कश्चिदागत्य राजानं दृष्टवान्। राजाह–'सुकवे, पर्जन्यं पठ।' ततः कविराह–

'नो चिन्तामणिभिर्न कल्पतरुभिर्नो कामधेन्वादिभि-
र्नो देवैश्च परोपकारनिरतैः स्थूलैर्न सूक्ष्मैरपि।
अम्भोदेह निरन्तरं जलभरैस्तामुर्वरां सिञ्चता
धौरेयेण धुरं त्वयाद्य वहता मन्ये जगज्जीवति'।। 197।।

राजा लक्षं ददौ।

कदाचिद्राजानं निरन्तरं दयमानमालोक्य मुख्यामात्यो वक्तुमशक्तो राज्ञः शयनभवनभित्तौ व्यक्तान्यक्षराणि लिखितवान्।

'आपदर्थं धनं रक्षेत्'

राजा शयनादुत्थितो गच्छन्भित्तौ तान्यक्षराणि वीक्ष्य स्वयं द्वितीयचरणं लिलेख–

'श्रीमतामापदः कुतः।'

अपरेद्युरमात्यो द्वितीयं चरणं लिखितं दृष्ट्वा स्वयं तृतीयं लिलेख–

'सा चेदपगता लक्ष्मीः'

परेद्यूः राजा चतुर्थं चरणं लिखति–

'सञ्चितार्थो विनश्यति'।। 198।।

ततो मुख्यामात्यो राज्ञः पादयोः पतति–'देव, क्षन्तव्योऽयं ममापराधः।'

अन्यदा धाराधीश्वरमुपरि सौधभूमौ शयानं मत्वा कश्चिद् द्विजचोरः खातपातपूर्वं राज्ञः कोशगृहं प्रविश्य बहूनि विविधरत्नानि वैदूर्यादीनि हृत्वा तानि परलोकऋणानि मत्वा तत्रैव वैराग्यमापन्नो विचारयामास–

'यद् व्यङ्गाः कुष्ठिनश्चान्धाः पङ्गवश्च दरिद्रिणः।
पूर्वोपार्जितपापस्य फलमश्नन्ति देहिनः'।। 199।।

ततो राजा निद्राक्षये दिव्यशयनस्थितो विविधमणिकङ्कणालङ्कृतं दयितावर्गं दर्शनीयमालोक्य गजतुरगरथपदातिसामग्रीं च चिन्तयन् राज्यसुख-सन्तुष्टः प्रमोदभरादाह–

'चेतोहरा युवतयः सुहृदोऽनुकूलाः
सद्बान्धवाः प्रणयगर्भगिरश्च भृत्याः।
वल्गन्ति दन्तिनिवहास्तरलास्तुरङ्गाः'

इति चरणत्रयं राज्ञोक्तम्। चतुर्थचरणं राज्ञो मुखान्न निःसरति। तदा चौरेण श्रुत्वा पूरितम्–

'सम्मीलने नयनयोर्न हि किञ्चिदस्ति'॥ 200॥

ततो ग्रथितग्रन्थो राजा चौरं वीक्ष्य तस्मै वीरवलयमदात्।

ततस्तस्करो वीरवलयमादाय ब्राह्मणगृहं गत्वा शयानं ब्राह्मणमुत्थाप्य तस्मै दत्त्वा प्राह–'विप्र एतद्राज्ञः पाणिवलयं बहुमूल्यम्। अल्पमूल्येन न विक्रेयम्।'

ततो ब्राह्मणः पण्यवीथ्यां तद्विक्रीय दिव्यभूषणानि पट्टदुकूलानि च जग्राह। ततो राजकीयाः केचनैनं चोरं मन्यमाना राज्ञो निवेदयन्ति। ततो राजनिकटे नीतः। राजा पृच्छति–'विप्र, धार्यं पटमपि नास्ति। अद्य प्रातरेव दिव्यकुण्डलाभरणपट्टदुकूलानि कुतः।' विप्रः प्राह–

'भेकैः कोटरशायिभिर्मृतमिव क्ष्मान्तर्गतं कच्छपैः
पाठीनैः पृथुपङ्कपीठलुठनाद्यस्मिन्मुहुर्मूर्च्छितम्।
तस्मिञ्शुष्कसरस्यकालजलदेनाऽऽगत्य तच्चेष्टितं
यत्राकुम्भनिमग्नवन्यकरिणां यूथैः पयः पीयते'॥ 201॥

तुष्टौ राजा तस्मै वीरवलयं चोरप्रदत्तं निश्चित्य स्वयं च लक्षं ददौ।

अन्यदा कोऽपि कवीश्वरो विष्णवाख्यो राजद्वारि समागत्य तैः प्रवेशितो राजानं दृष्ट्वा स्वस्तिपूर्वकं प्राह–

'धाराधीश धरामहेन्द्रगणनाकौतूहली यामयं
वेधास्त्वद्गणने चकार खटिकाखण्डेन रेखां दिवि।
सैवेयं त्रिदशापगा समभवत्त्वत्तुल्यभूमीधरा-
भावात्तु त्यजति स्म सोऽयमवनीपीठे तुषाराचलः॥ 202॥

राजा लोकोत्तरं श्लोकमाकर्ण्य 'किं देयम्' इति व्यचिन्तयत्। तस्मिन्क्षणे तदीयकवित्वमप्रतिद्वन्द्वमाकर्ण्य सोमनाथाख्यकवेर्मुखं विच्छायमभवत्। ततः स दौष्ट्याद्राजानं प्राह–'देव, असौ सुकविर्भवति। परमनेन न कदापि वीक्षितास्ति राजसभा। यतो दारिद्र्यवारिधिरयम्। अस्य च जीर्णमपि कौपीनं नास्ति।' ततो राजा सोमनाथं प्राह–

निरवद्यानि पद्यानि यद्यनाथस्य का क्षतिः।
भिक्षुणा कक्षनिक्षिप्तः किमिक्षुर्नीरसो भवेत्'॥ 203॥

ततः सर्वेभ्यस्ताम्बूलं दत्त्वा राजा सभाया उदतिष्ठत्। ततः सर्वैप्यन्योन्यमित्यभ्यधायि–'अद्य विष्णुकवेः कवित्वमाकर्ण्य सोमनाथेन सम्यग्दौष्ट्यमकारि।' ततः समुत्थिता विद्वत्परिषत्। ततो विष्णुकविरेकं पद्यं पत्रे लिखित्वा सोमनाथकविहस्ते दत्त्वा प्रणम्य गन्तुमारभत। 'अत्र सभायां त्वमेव चिरं नन्द।' ततो वाचयति सोमनाथकविः–

'एतेषु हा तरुणमारुतधूयमान-
दावानलैः कवलितेषु महीरुहेषु।
अम्भो न चेज्जलद मुञ्चसि मा विमुञ्च
वज्रं पुनः क्षिपसि निर्दय कस्य हेतोः'॥ 204॥

ततः सोमनाथकविर्निखिलमपि पट्टदुकूलवित्तहिरण्यमयीं तुरङ्गमादिसंपत्तिं कलत्रवस्त्रावशेषं दत्तवान्। ततो राजा मृगयारसप्रवृत्तो गच्छंस्तं विष्णुकविमालोक्य व्यचिन्तयत्–'मयास्मै भोजनमपि न प्रदत्तम्। मामनादृत्यायं सम्पत्तिपूर्णः स्वदेशं प्रति यास्यति। पृच्छामि। विष्णुकवे, कुतः सम्पत्तिः प्राप्ता।' कविराह–

'सोमनाथेन राजेन्द्र देव त्वद्गृहभिक्षुणा।
अद्य शोच्यतमे पूर्णं मयि कल्पद्रुमायितम्'॥ 205॥

राज्ञा पूर्वं सभायां श्रुतस्य श्लोकस्याक्षरलक्षं ददौ। सोमनाथेन च यावद्दत्तं तावदपि सोमनाथाय दत्तवान्। सोमनाथः प्राह–

'किसलयानि कुतः कुसुमानि वा
क्व च फलानि तथा वनवीरुधाम्।

अयमकारणकारुणिको न
चेद्वि तरतीह पयांसि पयोधरः॥ 206॥

ततो विष्णुकविः सोमनाथदत्तेन राज्ञा दत्तेन च तुष्टवान्। तदा सीमन्तकविः प्राह–

'वहति भुवनश्रेणीं शेषः फणाफलकस्थितां
कमठपतिना मध्येपृष्ठं सदा स च धार्यते।
तमपि कुरुते क्रोडाधीनं पयोनिधिरादरा-
दहह महतां निःसीमानश्चरित्रविभूतयः'॥ 207॥

कदाचित्सौधतले राजानमेत्य भृत्यः प्राह–'देव, अखिलेष्वपि कोशेषु यद्वित्तजातमस्ति तत्सर्वं देवेन कविभ्यो दत्तम्। तदधुना कोशगृहे धनलेशोऽपि नास्ति। कोऽपि कविः प्रत्यहं द्वारि तिष्ठति। इतः परं कविर्विद्वान्वा कोऽपि राज्ञे न प्राप्य इति मुख्यामात्येन देवसन्निधौ विज्ञापनीयमित्युक्तम्।'

राजा कोशस्थं सर्वं दत्तमिति जानन्नपि प्राह–'अद्य द्वारस्थं कविं प्रवेशय।' ततो विद्वानागत्य 'स्वस्ति' इति वदन्प्राह–

'नभसि निरवलम्बे सीदता दीर्घकालं
त्वदभिमुखविसृष्टोत्तानचञ्चूपुटेन।
जलधर जलधारा दूरतस्तावदास्तां
ध्वनिरपि मधुरस्ते न श्रुतश्चातकेन'॥ 208॥

राजा तदाकर्ण्य 'धिग्जीवितं यद्विद्वांसः कवयश्च द्वारमागत्य सीदन्ति', इति तस्मै विप्राय सर्वाण्याभरणान्युत्तार्य ददौ। ततो राजा कोशाधिकारिण-माहूयाऽऽह–'भाण्डारिक, मुञ्जराजस्य तथा मे पूर्वेषां च ये कोशा सन्ति तेषां मध्ये रत्नपूर्णाः कलशाः कुत्र।' ततः काश्मीरदेशान्मुचुकुन्दकविरागत्य 'स्वस्ति' इत्युक्त्वा प्राह–

त्वद्यशोजलधौ भोज निमज्जनभयादिव।
सूर्येन्दुबिम्बमिषतो धत्ते कुम्भद्वयं नभः'॥ 209॥

राजा तस्मै प्रत्यक्षरं लक्षं ददौ। पुनः कविराह–

'आसन्क्षीणानि यावन्ति चातकाश्रूणि तेऽम्बुद।
तावन्तोऽपि त्वयोदार न मुक्ता जलबिन्दवः॥ 210॥

ततः स राजा तस्मै शततुरगानपि ददौ। ततो भाण्डरिको लिखति–

'मुचुकुन्दाय कवये जात्यानश्वाञ्छातं ददौ।
भोजः प्रदत्तलक्षोऽपि तेनासौ याचितः पुनः'॥ 211॥

ततो राजा सर्वानपि वेश्म प्रेषयित्वान्तर्गच्छति। ततो राज्ञश्चामरग्राहिणी प्राह–

'राजन्मुञ्जकुलप्रदीप सकलक्ष्मापालचूडामणे
युक्तं सञ्चरणं तवाद्भुतमणिच्छत्रेण रात्रावपि।
मा भूत्त्वद्वदनावलोकनवशाद् व्रीडाभिनम्रः शशी
मा भूच्चेयमरुन्धती भगवती दुःशीलताभाजनम्'॥ 212॥

राजा तस्यै प्रत्यक्षरं लक्षं ददौ।

अन्यदा कुण्डिननगराद्गोपालो नाम कविरागत्य स्वस्तिपूर्वकं प्राह–

'त्वच्चित्ते भोज निर्यातं द्वयं तृणकणायते।
क्रोधे विरोधिनां सैन्यं प्रसादे कनकोच्चयः'॥ 213॥

राजा श्रुत्वाऽपि तुष्टो न दास्यति। राजपुरुषैः सह चर्चां कुर्वाणस्तिष्ठति। ततः कविर्व्यचिन्तयत्–'किमु राज्ञा नाश्रावि?' ततः क्षणेन समुन्नतमेघमवलोक्य राजानं कविराह–

'हे पाथोद यथोन्नतं हि भवता दिग्व्याप्ता सर्वतो
मन्ये धीर तथा करिष्यसि खलु क्षीराब्धितुल्यं सरः।
किन्त्वेष क्षमते न हि क्षणमपि ग्रीष्मोष्मणा व्याकुलः
पाठीनादिगणस्त्वदेकशरणस्तद्वर्ष तावत्कियत्॥ 214॥

राजा कविहृदयं विज्ञाय 'गोपालकवे, दारिद्र्याग्निना नितान्तं दग्धोऽसि, इति वदन्षोडश मणीननर्घ्यान् षोडश दन्तीन्द्रांश्च ददौ।

एकदा राजा धारानगरे विचरन् क्वचिच्छिवालये प्रसुप्तं पुरुषद्वयमपश्यत्। तयोरेको विगतनिद्रो वक्ति–'अहो, ममास्तरासन्न एव कस्त्वं प्रसुप्तोऽसि? जागर्षि नो वा।'

ततस्त्वपर आह–'विप्र, प्रणतोऽस्मि। अहमपि ब्राह्मणपुत्रस्त्वामत्र प्रथमरात्रौ शयानं वीक्ष्य प्रदीप्ते च प्रदीपे कमण्डलोपवीतादिभिर्ब्राह्मणं ज्ञात्वा भवदास्तरासन्न एवाहं प्रसुप्तः। इदानीं त्वद्गिरमाकर्ण्य प्रबुद्धोऽस्मि।'

प्रथमः प्राह–'वत्स, यदि त्वं प्रणतोऽसि, ततो दीर्घायुर्भव। वद, कुत आगम्यते, किं ते नाम, अत्र च किं कार्यम्।'

द्वितीयः प्राह–'विप्र, भास्कर इति मे नाम। पश्चिमसमुद्रतीरे प्रभासतीर्थसमीपे वसतिर्मम। तत्र भोजस्य वितरणं बहुभिर्व्यावर्णितम्। ततो याचितुमहमागतः। त्वं मम वृद्धत्वात्पितृकल्पोऽसि। त्वमपि सुपरिचयं वद।'

स आह–'वत्स, शाकल्य इति मे नाम। मयैकशिलानगर्या आगम्यते भोजं प्रति द्रविणाशया। वत्स, त्वयाऽनुक्तमपि दुःखं त्वयि ज्ञायते। कीदृशं तद्वद।'

ततो भास्करः प्राह–'तात, किं ब्रवीमि दुःखम्–

'क्षुत्क्षामाः शिशवः शवा इव भृशं मन्दाशया बान्धवाः
लिप्ता जर्जरघर्घरी जतुलवैर्नो मां तथा बाधते।
गेहिन्या त्रुटितांशुकं घटयितुं कृत्वा सकाकुस्मितं
कुप्यन्ती प्रतिवेश्मलोकगृहिणी सूचीं यथा याचिता'॥ 215॥

राजा श्रुत्वा सर्वाभरणान्युत्तार्य तस्मै दत्त्वा प्राह–'भास्कर, सीदन्त्यतीव ते बालाः। झटिति देशं याहि। ततः शाकल्यः प्राह–

'अत्युद्धृता वसुमती दलितोऽरिवर्गः
क्रोडीकृता बलवता बलिराजलक्ष्मीः।
एकत्र जन्मनि कृतं यदनेन यूना
जन्मत्रये तदकरोत्पुरुषः पुराणः'॥ 216॥

ततो राजा शाकल्याय लक्षत्रयं दत्तवान्।

अन्यदा राजा मृगयारसेन विचरन्नासीत्। तत्र पुरःसमागतहरिण्यां बाणेन विद्धायामपि वित्ताशया कोऽपि कविराह–

श्रीभोजे मृगयां गतेऽपि सहसा चापे समारोपितेऽ-
प्याकर्णान्तगतेऽपि मुष्टिगलिते बाणेऽङ्गलग्नेऽपि च।
स्थानान्नैव पलायितं न चलितं नोत्कम्पितं नोत्प्लुतं
मृग्या मद्वशगं करोति दयितं कामोऽयमित्याशया॥ 217॥

राजा तस्मै लक्षत्रयं प्रयच्छति।

अन्यदा सिंहासनमलङ्कुर्वाणे श्रीभोजनृपतौ द्वारपाल आगत्याह–'देव, जाह्नवीतीरवासिनी काचन वृद्धब्राह्मणी विदुषी द्वारि तिष्ठति।'

राजा–प्रवेशय।

तत आगच्छन्तीं राजा प्रणमति। सा तं 'चिरं जीव' इत्युक्त्वाह–

भोजप्रतापाग्निरपूर्व एष जागर्ति भूभृत्कटकस्थलीषु।
यस्मिन्प्रविष्टे रिपुपार्थिवानां तृणानि रोहन्ति गृहाङ्गणेषु॥218॥

राजा तस्यै रत्नपूर्णं कलशं प्रयच्छति। ततो लिखति भाण्डारिकः–

भोजेन कलशो दत्तः सुवर्णमणिसम्भृतः।
प्रतापस्तुतितुष्टेन वृद्धायै राजसंसदि'॥ 219॥

अन्यदा दूरदेशादागतः कश्चिच्चोरो राजानं प्राह–'देव, सिंहलदेशे मया काचन चामुण्डालये राजकन्या दृष्टा। सा च मां दृष्ट्वा 'मालवदेशदेवस्य महिमानं बहुधा श्रुतं त्वमपि वद' इति पप्रच्छ। मया च तस्या देवगुणा व्यावर्णिताः। सा चात्यन्ततोषाच्चन्दनतरोर्निरुपमं गर्भखण्डं दत्त्वा यथास्थानं प्रपेदे। देव, गुणाभिवर्णनप्राप्तं तदेतद् गृहाण। एतत्प्रसृतपरिमलभरेण भृङ्गा भुजङ्गाश्च समायान्ति।' राजा तद् गृहीत्वा तुष्टस्तस्मै लक्षं दत्तवान्। ततो दामोदरकविस्तन्मिषेण राजानं स्तौति–

'श्रीमच्चन्दनवृक्ष सन्ति बहवस्ते शाखिनः कानने
येषां सौरभमात्रकं निवसति प्रायेण पुष्पश्रिया।

प्रत्यङ्गं सुकृतेन तेन शुचिना ख्यातः प्रसिद्धात्मना
योऽसौ गन्धगुणस्त्वया प्रकटितः क्वासाविह प्रेक्ष्यते'॥ 220॥

राजा स्वस्तुतिं बुद्ध्वा लक्षं ददौ।

ततो द्वारपाल आगत्य प्राह–'देव, काचित्सूत्रधारी स्त्री द्वारि वर्तते।'

राजा–प्रवेशय।

ततः साऽऽगत्य राजानं प्रणिपत्याह–

'बलिः पातालनिलयोऽधः कृतश्चित्रमत्र किम्।
अधः कृतो दिविस्थोऽपि चित्रं कल्पद्रुमस्त्वया'॥ 221॥

राजा तस्यै प्रत्यक्षरं लक्षं ददौ।

ततः कदाचिन्मृगयापरिश्रान्तो राजा क्वचित्सहकारतरोधस्तात्तिष्ठति स्म। तत्र मल्लिनाथाख्यः कविरागत्य प्राह–

'शाखाशतशतवितताः[1] सन्ति कियन्तो न कानने तरवः।
परिमलभरमिलदलिकुलदलितदलाः शाखिनो विरलाः'॥ 222॥

ततो राजा तस्मै हस्तवलयं ददौ।

तत्रैवासीने राज्ञि कोऽपि विद्वानागत्य 'स्वस्ति' इत्युक्त्वा प्राह–'राजन्, काशीदेशमारभ्य तीर्थयात्रया परिभ्राम्यते दक्षिणदेशवासिना मया।'

राजा–भवादृशानां तीर्थवासिनां दर्शनात्कृतार्थोऽस्मि।

स आह–'वयं मान्त्रिकाश्च।'

राजा–विप्रेषु सर्वं सम्भाव्यते।

राजा पुनः प्राह–'विप्र, मन्त्रविद्यया यथा परलोके फलप्राप्तिः, तथा किमिहलोकेऽप्यस्ति?'

---

1. शाखाशतचितवियतः

विप्रः—राजन्, सरस्वतीचरणाराधनाद्विद्यावाप्तिर्विश्वविदिता। परं धनावाप्तिर्भाग्याधीना—

गुणाः खलु गुणा एव न गुणा भूतिहेतवः।
धनसंचयकर्तॄणि भाग्यानि पृथगेव हि॥ 223॥

देव, विद्यागुणा एव लोकानां प्रतिष्ठायै भवन्ति। न तु केवलं सम्पदः। देव,

आत्मायत्ते गुणग्रामे नैर्गुण्यं वचनीयता।
दैवायत्तेषु वित्तेषु पुंसां का नाम वाच्यता॥ 224॥

देव, मन्त्राराधनेनाऽप्रतिहता शक्तिः स्यात्। देव, एवं कुतूहलं पश्य। मया यस्य शिरसि करो निधीयते, स सरस्वतीप्रसादेनाऽस्खलित-विद्याप्रसारः स्यात्। राजा प्राह—'सुमते, महती देवताशक्तिः।' ततो राजा कामपि दासीमाकार्य विप्रं प्राह—-द्विजवर, अस्या वेश्यायाः शिरसि करं निधेहि।' विप्रस्तस्याः शिरसि करं निधाय तां प्राह—'देवि, यद्राजाऽऽज्ञापयति तद्वद।' ततो दासी प्राह— 'देव, अहमद्य समस्तवाङ्मयजातं हस्तामलकवत्प-श्यामि। देव, आदिश किं वर्णयामि।' ततो राजा पुरः खड्गं वीक्ष्य प्राह—'खड्गं मे व्यावर्णय' इति। दासी प्राह—

धाराधरस्त्वदसिरेष नरेन्द्र चित्रं
वर्षन्ति वैरिवनिताजनलोचनानि।
कोशेन सन्ततमसङ्गतिराहवेऽस्य
दारिद्र्यमभ्युदयति प्रतिपार्थिवानाम्'॥ 225॥

राजा तस्यै रत्नकलशाननर्घ्यान्पञ्च ददौ।

ततस्तस्मिन्क्षणे कुतश्चित्पञ्च कवयः समाजग्मुः। तानवलोक्येष-द्विच्छायमुखं राजानं दृष्ट्वा महेश्वरकविर्वृक्षमिषेणाह—

'किं जातोऽसि चतुष्पथे घनतरच्छायोऽसि किं छायया
छन्नश्चेत्फलितोऽसि किं फलभरैः पूर्णोऽसि किं सन्नतः।
हे सद्वृक्ष सहस्व सम्प्रति चिरं शाखाशिखाकर्षण-
क्षोभामोटनभञ्जनानि जनतः स्वैरेव दुश्चेष्टितैः'॥ 226॥

ततो राजा तस्मै लक्षं ददौ। ततस्ते द्विजवराः पृथक्पृथगाशीर्वचनमुदीर्य यथाक्रमं राजाज्ञया कम्बल उपविश्य मङ्गलं चक्रुः। तत एकः पठति–

'कूर्मः पातालगङ्गापयसि विहरतां तत्तटीरूढमुस्ता-
मादत्तामादिपोत्री शिथिलयतु फणामण्डलं कुण्डलीन्द्रः।
दिङ्मातङ्गा मृणालीकवलनकलनां कुर्वतां पर्वतेन्द्राः
सर्वे स्वैरं चरन्तु त्वयि वहति विभो भोज देवीं धरित्रीम्'॥ 227॥

राजा चमत्कृतस्तस्मै शतमश्वान्ददौ। ततो भाण्डारिको लिखति–

'क्रीडोद्याने नरेन्द्रेण शतमश्वा मनोजवाः।
प्रदत्ताः कामदेवाय सहकारतरोरधः'॥ 228॥

ततः कदाचिद्भोजो विचारयति स्म–'मत्सदृशो वदान्यः कोऽपि नास्ति' इति। तद्गर्वं विदित्वा मुख्यामात्यो विक्रमार्कस्य पुण्यपत्रं भोजाय प्रदर्शयामास। भोजस्तत्र पत्रे कश्चित्प्रस्तावमपश्यत्। तथाहि–'विक्रमार्कः पिपासया प्राह–

स्वच्छं सज्जनचित्तवल्लघुतरं दीनार्तिवच्छीतलं
पुत्रालिङ्गनवत्तथैव मधुरं तद्बाल्यसंजल्पवत्।
एलोशीरलवङ्गचन्दनलसत्कर्पूरकस्तूरिका-
जातीपाटलिकेतकैः सुरभितं पानीयमानीयताम्'॥ 229॥

ततो मागधः प्राह–

'वक्त्राम्भोजं सरस्वत्यधिवसति सदा शोण एवाधरस्ते
बाहुः काकुत्स्थवीर्यस्मृतिकरणपटुर्दक्षिणस्ते समुद्रः।
वाहिन्यः पार्श्वमेताः कथमपि भवतो नैव मुञ्चन्त्यभीक्ष्णं
स्वच्छे चित्ते कुतोऽभूत्कथय नरपते तेऽम्बुपानाभिलाषः'॥ 230॥

ततो विक्रमार्कः प्राह। तथाहि–

'अष्टौ हाटककोटयस्त्रिनवतिर्मुक्ताफलानां तुलाः
पञ्चाशन्मधुगन्धमत्तमधुपाः क्रोधोद्धताः सिन्धुराः।

अश्वानामयुतं प्रपञ्चचतुरं वाराङ्गनानां शतं
दत्तं पाण्ड्यनृपेण यौतकमिदं वैतालिकायाऽर्प्यताम्'॥ 231॥

ततो भोजः प्रथमत एवाद्भुतं विक्रमार्कचरित्रं दृष्ट्वा निजगर्वं तत्याज।

ततः कदाचिद्धारानगरे रात्रौ विचरन् राजा देवालये कञ्चन शीतालुं ब्राह्मणमित्थं पठन्तमवलोक्य स्थितः–

'शीतेनाध्युषितस्य माघजलवच्चिन्तार्णवे मज्जतः
शान्ताग्नेः स्फुटिताधरस्य धमतः क्षुत्क्षामकुक्षेर्मम।
निद्रा क्वाप्यवमानितेव दयिता सन्त्यज्य दूरं गता
सत्पात्रप्रतिपादितेव कमला नो हीयते[1] शर्वरी'॥232॥

इति श्रुत्वा राजा प्रातस्तमाहूय पप्रच्छ–'विप्र, पूर्वेद्यू रात्रौ त्वया दारुणः शीतभारः कथं सोढः?' विप्र आह–

'रात्रौ जानुर्दिवा भानुः कृशानुः सन्ध्ययोर्द्वयोः।
एवं शीतं मया नीतं जानुभानुकृशानुभिः'॥ 233॥

राजा तस्मै सुवर्णकलशत्रयं प्रादात्। ततः कविः राजानं स्तौति–

'धारयित्वा त्वयात्मानं महात्यागधनायुषा।
मोचिता बलिकर्णाद्याः स्वयशोगुप्तकर्मणः'॥ 234॥

राजा तस्मै लक्षं ददौ।

एकदा क्रीडोद्यानपाल आगत्यैकमिक्षुदण्डं राज्ञः पुरो मुमोच। तं राज्ञा करे गृहीतवान्। ततो मयूरकविर्नितान्तपरिचयवशादात्मनि राज्ञा कृतामवज्ञां मनसि निधायेक्षुमिषेणाह–

'कान्तोऽसि नित्यमधुरोऽसि रसाकुलोऽसि
किं चासि पञ्चशरकार्मुकमद्वितीयम्।
इक्षो तवास्ति सकलं परमेकमूनं
यत्सेवितो भजसि नीरसतां क्रमेण'॥ 235॥

1. क्षीयते

राजा कविहृदयं ज्ञात्वा मयूरं सम्मानितवान्।

ततः कदाचिद्रात्रौ सौधोपरि क्रीडापरो राजा शशाङ्कमालोक्य प्राह–

'यदेतच्चन्द्रान्तर्जलदलवलीलां वितनुते
तदाचष्टे लोकः शशक इति नो मां प्रति तथा।'

ततश्चाधोभूमौ सौधान्तःप्रविष्टः कश्चिच्चोर आह–

अहं त्विन्दुं मन्ये त्वदरिविरहाक्रान्ततरुणी-
कटाक्षोल्कापातव्रणकिणकलङ्काङ्किततनुम्'॥ 236॥

राजा तच्छ्रुत्वा प्राह–'अहो महाभाग, कस्त्वमर्धरात्रे कोशगृहमध्ये तिष्ठसि' इति। स आह–'देव, अभयं नो देहि'। राजा–'तथा' इति। ततो राजानं स चोरः प्रणम्य स्ववृत्तान्तमकथयत्। तुष्टो राजा चोराय दश कोटीः सुवर्णस्याष्टौ मत्तान्गाजेन्द्रांश्च ददौ। ततः कोशाधिकारी धर्मपत्रे लिखति–

'तदस्मै चोराय प्रतिनिहतमृत्युप्रतिभिये
प्रभुः प्रीतः प्रादादुपरितनपादद्वयकृते।
सुवर्णानां कोटीर्दश दशनकोटिक्षतगिरीन्
गजेन्द्रानप्यष्टौ मदमुदितकूजन्मधुलिहः'॥ 237॥

ततः कदाचिद् द्वारपाल आगत्य प्राह–'देव, कौपीनावशेषो विद्वान् द्वारि वर्तते' इति। राजा–'प्रवेशय' इत्याह। ततः प्रविष्टः स कविर्भोजमालोक्याद्य मे दारिद्र्यनाशो भविष्यतीति मत्वा तुष्टो हर्षाश्रूणि मुमोच। राजा तमालोक्य प्राह–'कवे, किं रोदिषि' इति। ततः कविराह–'राजन्, आकर्णय मद्गृहस्थितिम्।

'अये लाजा उच्चैः पथि वचनमाकर्ण्य गृहिणी
शिशोः कर्णौ यत्नात्सुपिहितवती दीनवदना।
मयि क्षीणोपाये यदकृत दृशावश्रुबहुले
तदन्तः शल्यं मे त्वमसि पुनरुद्धर्तुमुचितः'॥ 238॥

राजा 'शिव शिव कृष्ण कृष्ण' इत्युदीरयन्प्रत्यक्षरलक्षं दत्त्वा प्राह–'सुकवे, त्वरितं गच्छ गेहम्। त्वद्गृहिणी खिन्ना मा भूत्' इति।

ततः कदाचिन्मृगयापरिश्रान्तो राजा कस्यचिन्महावृक्षस्य छायामाश्रित्य तिष्ठति स्म। तत्र शाम्भवदेवो नाम कविः कश्चिदागत्य राजानं वृक्षमिषेणाह—

'आमोदैर्मरुतो मृगाः किसलयोल्लासैस्त्वचा तापसाः
पुष्पैः षट्चरणाः फलैः शकुनयो घर्मार्दिताश्छायया।
स्कन्धैर्गन्धगजास्त्वयैव विहिताः सर्वे कृतार्थास्तत-
स्त्वं विश्वोपकृतिक्षमोऽसि भवता भग्नापदोऽन्ये द्रुमाः॥ 239॥

किं च

अविदितगुणापि सत्कविभणितिः कर्णेषु वमति मधुधाराम्।
अनधिगतपरिमलापि च हरति दृशं मालतीमाला'॥ 240॥

ताभ्यां श्लोकाभ्यां चमत्कृतो राजा प्रत्यक्षरं लक्षं ददौ।

अन्यदा श्रीभोजः श्रीमहेश्वरं नन्तुं शिवालयमभ्यगात्। तदा कोऽपि ब्राह्मणो राजानं शिवसन्निधौ प्राह—'देव,

'अर्धं दानववैरिणा गिरिजयाप्यर्धं शिवस्याहृतं
देवेत्थं जगतीतले पुरहराभावे समुन्मीलति।
गङ्गा सागरमम्बरं शशिकला नागाधिपः क्ष्मातलं
सर्वज्ञत्वमधीश्वरत्वमगमत्त्वां मां तु भिक्षाटनम्'॥ 241॥

राजाक्षरलक्षं ददौ।

ततः कदाचिद् द्वारपाल आगत्य प्राह—'देव कोऽपि विद्वान्द्वारि तिष्ठति' इति। राजा—'प्रवेशय' इति। ततः प्रविष्टो विद्वान्पठति—

'क्षणमप्यनुगृह्णाति यं दृष्टिस्तेऽनुरागिणी।
ईर्ष्ययेव त्यजत्याशु तं नरेन्द्र दरिद्रता'॥ 242॥

राजा लक्षं ददौ। पुनरपि पठति कविः—

'केचिन्मूलाकुलाशाः कतिचिदपि पुनः स्कन्धसम्बन्धभाज-
श्छायां केचित्प्रपन्नाः प्रपदमपि परे पल्लवानुन्नयन्ति।

अन्ये पुष्पाणि पाणौ दधति तदपरे गन्धमात्रस्य पात्रं
वाग्वल्ल्याः किं तु मूढाः फलमहह न हि द्रष्टुमप्युत्सहन्ते'॥ 243॥

एतदाकर्ण्य बाणः प्राह–

'परिच्छिन्नः स्वादोऽमृतगुडमधुक्षौद्रपयसां
कदाचिच्चाभ्यासाद्व्रजति ननु वैरस्यमधिकम्।
प्रियाबिम्बोष्ठे वा रुचिरकविवाक्येऽप्यनवधि-
र्नवानन्दः कोऽपि स्फुरति तु रसोऽसौ निरुपमः'॥ 244॥

ततो राजा लक्षं दत्तवान्।

ततः कदाचित्सिंहासनमलङ्कुर्वाणे द्वारपाल आगत्य प्राह–'देव, वाराणसीदेशादागतः कोऽपि भवभूतिर्नाम कविर्द्वारि तिष्ठति' इति। राजा प्राह–'प्रवेशय' इति। ततः प्रविष्टः सोऽपि सभामगात्। ततः सभ्याः सर्वे तदागमनेन तुष्टा अभवन्। राजा च भवभूतिं प्रेक्ष्य प्रणमति स्म। स च 'स्वस्ति' इत्युक्त्वा तदाज्ञयोपविष्टः। भवभूतिः प्राह–देव,

नानीयन्ते मधुनि मधुपाः पारिजातप्रसूनै-
र्नाभ्यर्थ्यन्ते तुहिनरुचिना चन्द्रिकायां चकोराः।
अस्मद्वाङ्माधुरिमधुरमापद्य पूर्वावताराः
सोल्लासाः स्युः स्वयमिह बुधाः किं मुधाऽभ्यर्थनाभिः॥ 245॥

नास्माकं शिबिका न कापि कटकाद्यालङ्क्रियासत्क्रिया
नोत्तुङ्गस्तुरगो न कश्चिदनुगो नैवाम्बरं सुन्दरम्।
किन्तु क्ष्मातलवर्त्यशेषविदुषां साहित्यविद्याजुषां
चेतस्तोषकरी शिरोनतिकरी विद्याऽनवद्याऽस्ति नः'॥ 246॥

इत्याकर्ण्य बाणपण्डितपुत्रः प्राह–'आः पाप, धाराधीशसभायामहङ्कारं मा कृथाः।

निश्वासोऽपि न निर्याति बाणे हृदयवर्त्मनि।
किं पुनः प्रकटाटोपपदबद्धा सरस्वती'॥ 247॥

ततो भवभूतिः पराभवमसहमानः प्राह–

'हठादाकृष्टानां कतिपयपदानां रचयिता
जनः स्पर्धालुश्चेदहह कविना वश्यवचसा।
भवेदद्य श्वो वा किमिह बहुना पापिनि कलौ
घटानां निर्मातुस्त्रिभुवनविधातुश्च कलहः'॥ 248॥

पुनराह–

'कालिदासकवेर्वाणी कदाचिन्मद्‌गिरा सह।
कलयत्यद्य साम्यं चेद्‌व्रीता भीता पदे पदे'॥ 249॥

ततः कालिदासः प्राह–सखे भवभूते, महाकविरसि। अत्र किमु वक्तव्यम्।

'एषा धारेन्द्रपरिषन्महापण्डितमण्डिता।
आवयोरन्तरं वेत्ति राजा वा शिवसन्निभः'॥ 250॥

तच्छ्रुत्वा राजा प्राह–'युवाभ्यां रत्यन्तो वर्णनीयः' इति।

भवभूतिः–

'मुक्ताभूषणमिन्दुबिम्बमजनि व्याकीर्णतारं नभः
स्मारं चापमपेतचापलमभूदिन्दीवरे मुद्रिते।
व्यालीनं कलकण्ठमन्दरणितं मन्दानिलैर्मन्दितं
निष्पन्दस्तबका च चम्पकलता साऽभून्न जाने ततः'॥ 251॥

ततः कालिदासः प्राह–

'स्विन्नं मण्डलमैन्दवं विलुलितं स्रग्भारनद्धं तमः
प्रागेव प्रथमानकैतकशिखालीलायितं सुस्मितम्।
शान्तं कुण्डलताण्डवं कुवलयद्वन्द्वं तिरोमीलितं
वीतं विद्रुमसीत्कृतं नहि ततो जाने किमासीदिति'॥ 252॥

राजा कालिदासं प्राह–'सुकवे, भवभूतिना सह साम्यं तव न वक्तव्यम्।' भवभूतिराह–'देव, किमिति वारयसि।' राजाऽऽह–'सर्वप्रकारेण कविरसि।' ततो बाणः प्राह–'राजन्, भवभूतिः कविश्चेत्कालिदासः किं वक्तव्यः।'

राजा—बाणकवे, कालिदासः कविर्न। किन्तु पार्वत्याः कश्चिदवनौ पुरुषावतार एव।

ततो भवभूतिराह—'देव, किमत्र प्राशस्त्यं भाति।' राजा प्राह—'भवभूते, किमु वक्तव्यं प्राशस्त्यं। कालिदासश्लोके यतः कैतकशिखालीलायितं सुस्मितमिति पठितम्। ततो भवभूतिराह—'देव, पक्षपातेन वदसि' इति। ततः कालिदासः प्राह—'देव अपख्यातिर्माभूत्। भुवनेश्वरीदेवतालयं गत्वा तत्सन्निधौ तां पुरस्कृत्य धटे संशोधनीयं त्वया।'

ततो भोजः सर्वकविवृन्दपरिवृतः सन्भुवनेश्वरीदेवालयं प्राप्य तत्र तत्सन्निधौ भवभूतिहस्ते धटं दत्त्वा श्लोकद्वयं च तुल्यपत्रद्वये लिखित्वा तुलायां मुमोच। ततो भवभूतिभागे लघुत्वोद्भूतामीषदुन्नतिं ज्ञात्वा देवी भक्तपराधीना सदसि तत्परिभवो मा भूदिति स्वावतंसकह्लारमकरन्दं वामकरनखाग्रेण गृहीत्वा भवभूतिपत्रे चिक्षेप। ततः कालिदासः प्राह—

'अहो मे सौभाग्यं मम च भवभूतेश्च भणितं
धटायामारोप्य प्रतिफलति तस्यां लघिमनि।
गिरां देवी सद्यः श्रुतिकलितकह्लारकलिका-
मधूलीमाधुर्यं क्षिपति परिपूर्त्यै भगवती'॥ 253॥

ततः कालिदासपादयोः पतति भवभूतिः। राजानं च विशेषज्ञं मनुते स्म। ततो राजा भवभूतिकवये शतं मत्तगजान्ददौ।

अन्यदा राजा धारानगरे रात्रावेकाकी विचरन्काञ्चन स्वैरिणीं सङ्केतं गच्छन्तीं दृष्ट्वा पप्रच्छ—'देवी, का त्वम्? एकाकिनी मध्यरात्रौ क्व गच्छसि?' इति। ततश्चतुरा स्वैरिणी सा तं रात्रौ विचरन्तं श्रीभोजं निश्चित्य प्राह—

'त्वत्तोऽपि विषमो राजन्विषमेषुः क्षमापते।
शासनं यस्य रुद्राद्याः दासवन्मूर्ध्नि कुर्वते'॥ 254॥

ततस्तुष्टो राजा दोर्दण्डादादायाङ्गदं वलयं च तस्यै दत्तवान्। सा च यथास्थानं प्राप।

ततो वर्त्मनि गच्छन्क्वचिद् गृह एकाकिनीं रुदतीं नारीं दृष्ट्वा 'किमर्थमर्धरात्रौ रोदिति? किं दुःखमेतस्याः?' इति विचारयितुमेकमङ्गरक्षकं

प्राहिणोत्। ततोऽङ्गरक्षकः पुनरागत्य प्राह—'देव, मया पृष्टा यदाह तच्छ्रुणु—

वृद्धो मत्पतिरेष मञ्चकगतः स्थूणावशेषं गृहं
कालोऽयं जलदागमः कुशलिनी वत्सस्य वार्तापि नो।
यत्नात्सञ्चिततैलबिन्दुघटिका भग्नेति पर्याकुला
दृष्ट्वा गर्भभरालसां निजवधूं श्वश्रूश्चिरं रोदिति'॥ 255॥

ततः कृपावारिधिः क्षोणीपालस्तस्यै लक्षं ददौ।

अन्यदा कोङ्कणदेशवासी विप्रो राज्ञे 'स्वस्ति' इत्युक्त्वा प्राह—

'शुक्तिद्वयपुटे भोज यशोऽब्धौ तव रोदसी।
मन्ये तदुद्भवं मुक्ताफलं शीतांशुमण्डलम्'॥ 256॥

राजा तस्मै लक्षं ददौ।

अन्यदा काश्मीरदेशात्कोऽपि कौपीनावशेषो राजनिकटस्थकवीन्कनकमाणिक्यपट्टदुकूलालङ्कृतानवलोक्य राजानं प्राह—

'नो पाणी वरकङ्कणक्कणयुतौ नो कर्णयोः कुण्डले
क्षुभ्यत्क्षीरधिदुग्धमुग्धमहसी नो वाससी भूषणम्।
दन्तस्तम्भविकासिका न शिबिका नाश्वोऽपि विश्वोन्नतो
राजन्राजसभासुभाषितकलाकौशल्यमेवास्ति नः'॥ 257॥

ततस्तस्मै राजा लक्षं ददौ।

अन्यदा राजा रात्रौ चन्द्रमण्डलं दृष्ट्वा तदन्तःस्थकलङ्कं वर्णयति स्म—

'अङ्कं केऽपि शशङ्किरे जलनिधेः पङ्कं परे मेनिरे
सारङ्गं कतिचिच्च संजगदिरे भूच्छायमैच्छन्परे'।

इति राजा पूर्वार्धं लिखित्वा कालिदासहस्ते ददौ। ततः स तस्मिन्नेव क्षण उत्तरार्धं लिखति कविः—

'इन्दौ यद्दलितेन्द्रनीलशकलश्यामं दरीदृश्यते
तत्सान्द्रं निशि पीतमन्धतमसं कुक्षिस्थमाचक्ष्महे'॥ 258॥

राजा प्रत्यक्षरलक्षमुत्तरार्धस्य दत्तवान्। ततो राजा कालिदासकविता-पद्धतिं वीक्ष्य चमत्कृतः पुनराह–'सखे, अकलङ्कं चन्द्रमसं व्यावर्णय' इति। ततः कविः पठति–

'लक्ष्मीक्रीडातडागो रतिधवलगृहं दर्पणो दिग्वधूनां
पुष्पं श्यामालतायास्त्रिभुवनजयिनो मन्मथस्यातपत्रम्।
पिण्डीभूतं हरस्य स्मितममरधुनीपुण्डरीकं मृगाङ्को
ज्योत्स्नापीयूषवापी जयति सितवृषस्तारकागोकुलस्य'[1]॥ 259॥

राजा पुनः प्रत्यक्षरलक्षं ददौ।

एकदा कश्चिद् दूरदेशादागतो वीणाकविराह–

'तर्कव्याकरणाध्वनीनधिषणो नाहं न साहित्यवि-
न्नो जानामि विचित्रवाक्यरचनाचातुर्यमत्यद्भुतम्।
देवी कापि विरिञ्चिवल्लभसुता पाणिस्थवीणाकल-
क्वाणाभिन्नरवं तथापि किमपि ब्रूते मुखस्था मम'॥ 260॥

राजा तस्मै लक्षं ददौ। बाणस्तस्य सुललितप्रबन्धं श्रुत्वा प्राह–देव,

मातङ्गीमिव माधुरीं ध्वनिविदो नैव स्पृशन्त्युत्तमां
व्युत्पत्तिं कुलकन्यकामिव रसोन्मत्ता न पश्यन्त्यमी।
कस्तूरीघनसारसौरभसुहृद्व्युत्पत्तिमाधुर्ययो-
र्योगः कर्णरसायनं सुकृतिनः कस्यापि सम्पद्यते'॥ 261॥

अन्यदा राजा सीतां प्रातः प्राह–'देवि, प्रभातं व्यावर्णय' इति। सीता प्राह–

विरलविरलाः स्थूलास्ताराः कलाविव सज्जना
मन इव मुनेः सर्वत्रैव प्रसन्नमभून्नभः।
अपसरति च ध्वान्तं चित्तात्सतामिव दुर्जनो
व्रजति च निशा क्षिप्रं लक्ष्मीरनुद्यमिनामिव। 262॥

राज़ा लक्षं दत्त्वा कालिदासं प्राह–'सखे सुकवे, त्वमपि प्रभातं व्यावर्णय' इति।

---

1. निकरस्तारकागोलकस्य

कालिदासः—

'अभूत्प्राची पिङ्गा रसपतिरिव प्राश्य[1] कनकं
गतच्छायश्चन्द्रो बुधजन इव ग्राम्यसदसि।
क्षणात्क्षीणास्तारा नृपतय इवानुद्यमपरा
न दीपा राजन्ते द्रविणरहितानामिव गुणाः'॥ 263॥

राजा तस्मै प्रत्यक्षरं लक्षं ददौ।

अन्यदा द्वारपाल आगत्य प्राह—'देव, कापि मालाकारपत्नी द्वारि तिष्ठति' इति। राजाऽऽह—'प्रवेशय' इति। ततः प्रवेशिता सा च नमस्कृत पठति—

'समुन्नतघनस्तनस्तबकचुम्बितुम्बीफल-
क्वणन्मधुरवीणया विबुधलोकलोलभ्रुवा।
त्वदीयमुपगीयते हरकिरीटकोटिस्फुर-
त्तुषारकरकन्दलीकिरणपूरगौरं यशः'॥ 264॥

राजा 'अहो महती पदपद्धतिः' इति तस्याः प्रत्यक्षरं लक्षं ददौ।

अन्यदा रात्रौ राजा धारानगरे विचरन्कस्यचिद् गृहे कामपि कामिनीमुलूखलपरायणां ददर्श। राजा तां तरुणीं पूर्णचन्द्राननां सुकुमाराङ्गीं विलोक्य तत्करस्थं मुसलं प्राह—'हे मुसल, एतस्याः करपल्लवस्पर्शेनापि त्वयि किसलयं नासीत्। तर्हि सर्वथा काष्ठमेव त्वम्' इति। ततो राजा एकं चरणं पठति स्म—

'मुसल किसलयं ते तत्क्षणाद्यन्न जातम्।'

ततो राजा प्रातः सभायां समागतं कालिदासं वीक्ष्य 'मुसल किसलयं ते तत्क्षणाद्यन्न जातम्' इति पठित्वा 'सुकवे, त्वं चरणत्रयं पठ' इत्युवाच। ततः कालिदासः प्राह—

'जगति विदितमेतत्काष्ठमेवासि नूनं
तदपि च किल सत्यं कानने वर्धितोऽसि।

1. प्राप्य

नवकुवलयनेत्रीपाणिसङ्गोत्सवेऽस्मि-
न्मुसल किसलयं ते तत्क्षणाद्यन्न जातम्'॥ 265॥

ततो राजा चरणत्रयस्य प्रत्यक्षरं लक्षं ददौ।

अन्यदा राजा दीर्घकालं जलकेलिं विधाय परिश्रान्तस्तत्तीरस्थवटविटपच्छायायां निषण्णः। तत्र कश्चित्कविरागत्य प्राह–

'छन्नं सैन्यरजोभरेण भवतः श्रीभोजदेव क्षमा-
रक्षादक्षिण दक्षिणक्षितिपतिः प्रेक्ष्यान्तरिक्षं क्षणात्।
निःशङ्को निरपत्रपो निरनुगो निर्बान्धवो निःसुहृ-
न्निस्त्रीको निरपत्यको निरनुजो निर्हाटको निर्गतः॥ 266॥

किं च

अकाण्डधृतमानसव्यवसितोत्सवैः सारसै-
रकाण्डपटुताण्डवैरपि शिखण्डिनां मण्डलैः।
दिशः समवलोकिताः सरसनिर्भरप्रोल्लस-
द्भवत्पृथुवरूथिनीरजनिभूरजःश्यामलाः'॥ 267॥

ततो राजा लक्षद्वयं ददौ। तदानीमेव तस्य शाखायामेकं काकं रटन्तं प्रेक्ष्य कोकिलं चान्यशाखायां कूजन्तं वीक्ष्य देवजयनामा कविराह–

'नो चारू चरणौ न चापि चतुरा चञ्चूर्न वाच्यं वचो
नो लीलाचतुरा गतिर्न च शुचिः पक्षग्रहोऽयं तव।
क्रूरक्रेङ्कृतिनिर्भरां गिरमिह स्थाने वृथैवोद्गिर-
न्मूर्ख ध्वाङ्क्ष न लज्जसेऽप्यसदृशं पाण्डित्यमुन्नाटयन्'॥ 268॥

तत एनां देवजयकविना काकमिषेण विरचितां स्वगर्हणां मन्यमानस्तत्स्पर्धालुर्हरिशर्मा नाम कविः कोपेनेर्ष्यापूर्वं प्राह–

'तुल्यवर्णच्छदैः कृष्णः कोकिलैः सह सङ्गतः।
केन व्याख्यायते काकः स्वयं यदि न भाषते'॥ 269॥

ततो राजा तयोर्हरिशर्मदेवजययोरन्योन्यवैरं ज्ञात्वा मिथ आलिङ्गनादिना वस्त्रालङ्कारादिदानेन च मित्रत्वं व्यधात्।

अन्यदा राजा यानमारुह्य गच्छन्वर्त्मनि कश्चित्तपोनिधिं दृष्ट्वा तं प्राह–

'भवादृशानां दर्शनं भाग्यायत्तम्। भवतां क्व स्थितिः? भोजनार्थं के वा प्रार्थ्यन्ते' इति। ततः स राजवचनमाकर्ण्य तपोनिधिराह–

'फलं स्वेच्छालभ्यं प्रतिवनमखेदं क्षितिरुहां
पयः स्थाने स्थाने शिशिरमधुरं पुण्यसरिताम्।
मृदुस्पर्शा शय्या सुललितलतापल्लवमयी
सहन्ते सन्तापं तदपि धनिनां द्वारि कृपणाः॥ 270॥

राजन्, वयं कमपि नाभ्यर्थयामः न गृह्णीमश्च' इति। राजा तुष्टो नमति।

तत उत्तरदेशादागत्य कश्चिद्राजानं 'स्वस्ति' इत्याह। तं च राजा पृच्छति–'विद्वन्, कुत्र ते स्थितिः' इति। विद्वानाह–

'यत्राम्बु निन्दत्यमृतमन्त्यजाश्च सुरेश्वरान्।
चिन्तामणींश्च पाषाणास्तत्र नो वसतिः प्रभो'॥ 271॥

तदा राजा लक्षं दत्वा प्राह–'काशीदेशे का विशेषवार्ता' इति। स आह–'देव, इदानीं काचिदद्भुतवार्ता तत्र लोकमुखेन श्रुता–देवा दुःखेन दीनाः' इति। राजा–देवानां कुतो दुःखं विद्वत्।

स चाह–

'निवासः क्वाद्य नो दत्तो भोजेन कनकाचलः।
इति व्यग्रधियो देवा भोज वार्तेति नूतना'॥ 272॥

ततो राजा कुतूहलोक्त्या तुष्टः संस्तस्मै पुनर्लक्षं ददौ।

ततो द्वारपालः प्राह–'देव, श्रीशैलादागतः कश्चिद्विद्वान्ब्रह्मचर्यनिष्ठो द्वारि वर्तते' इति। राजा–'प्रवेशय' इत्याह। तत आगत्य ब्रह्मचारी चिरं जीव इति वदति। राजा तं पृच्छति–'ब्रह्मन्, बाल्य एव कलिकालाननुरूपं किं नाम व्रतं ते। अन्वहमुपवासेन कृशोऽसि। कस्यचिद् ब्राह्मणस्य कन्यां तुभ्यं

दापयिष्यामि, त्वं चेद्गृहस्थधर्ममङ्गीकरिष्यसि' इति। ब्रह्मचारी प्राह—देव, त्वमीश्वरः। त्वया किमसाध्यम्।

सारङ्गाः सुहृदो गृहं गिरिगुहा शान्तिः प्रिया गेहिनी
वृत्तिर्वन्यलताफलैर्निवसनं श्रेष्ठं तरूणां त्वचः।
तद्ध्यानामृतपूरमग्नमानसां येषामियं निर्वृति-
स्तेषामिन्दुकलावतंसयमिनां मोक्षेऽपि नो न स्पृहा'॥ 273॥

राजोत्थाय पादयोः पतति। आह च—'ब्राह्मन्, मया किं कर्तव्यम्' इति। स आह—'देव, वयं काशीं जिगमिषामः। तत एवं विधेहि। ये त्वत्सदने पण्डितवरास्तान्सर्वानपि सपत्नीकान्काशीं प्रति प्रेषय। ततोऽहं गोष्ठीतृप्तः काशीं गमिष्यामि' इति। राजा तथा चक्रे। ततः सर्वे पण्डितवरास्तदाज्ञया प्रस्थिताः। कालिदास एको न गच्छति स्म। तदा राजा कालिदासं प्राह—'सुकवे, त्वं कुतो न गतोऽसि' इति। ततः कालिदासो राजानं प्राह—देव, सर्वज्ञोऽसि।

ते यान्ति तीर्थेषु बुधा ये शम्भोर्दूरवर्तिनः।
यस्य गौरीश्वरश्चित्ते तीर्थं भोज परं हि सः'॥ 274॥

ततो विद्वत्सु काशीं गतेषु राजा कदाचित्सभायां कालिदासं पृच्छति स्म—कालिदास, अद्य किमपि श्रुतं किं त्वया' इति। स आह—

'मेरौ मन्दरकन्दरासु हिमवत्सानौ महेन्द्राचले
कैलासस्य शिलातलेषु मलयप्राग्भारभागेष्वपि।
सह्याद्रावपि तेषु तेषु बहुशो भोज श्रुतं ते मया
लोकालोकविचारचारणगणैरुद्गीयमानं यशः'॥ 275॥

ततश्चमत्कृतो राजा प्रत्यक्षरं लक्षं ददौ।

ततः कदाचिद्राजा विद्वद्वृन्दं निर्गतं कालिदासं चानवरतं वेश्यालम्पटं ज्ञात्वा व्यचिन्तयत्—अहह, बाणमयूरप्रभृतयो मदीयामाज्ञां व्यदधुः। अयं च वेश्यालम्पटतया ममाज्ञां नाद्रियते। किं कुर्मः' इति। ततो राजा सावज्ञं कालिदासमपश्यत्। तत आत्मनि राज्ञोऽवज्ञां ज्ञात्वा कालिदासो बल्लालदेशं गत्वा तद्देशाधिनाथं प्राप्य प्राह—देव, मालवेन्द्रस्य भोजस्यावज्ञया त्वद्देशं

प्राप्तोऽहं कालिदासनामा कविः' इति। ततो राजा तमासन उपवेश्य प्राह—सुकवे, भोजसभाया इहागतैः पण्डितैः समुदितः शतशस्ते महिमा। सुकवे, त्वां सरस्वतीं वदन्ति। ततः किमपि पठ'। इति। ततः कालिदास आह—

'बल्लालक्षोणिपाल त्वदहितनगरे सञ्चरन्ती किराती
कीर्णान्यादाय रत्नान्युरुतरखदिराङ्गारशङ्काकुलाङ्गी।
क्षिप्त्वा श्रीखण्डखण्डं तदुपरि मुकुलीभूतनेत्रा धमन्ती
श्वासामोदानुयातैर्मधुकरनिकरैर्धूमशङ्कां बिभर्ति॥ 276॥

ततस्तस्मै प्रत्यक्षरं लक्षं ददौ।

ततः कदाचिद्बल्लालराजः कालिदासं पप्रच्छ—'सुकवे एकशिला-नगरीं व्यावर्णय' इति। ततः कविराह—

अपाङ्गपातैरपदेशपूर्वैरेणीदृशामेकशिलानगर्याम्।
वीथीषु वीथीषु विनापराधं पदे पदे शृङ्खलिता युवानः॥ 277॥

पुनश्च प्रत्यक्षरलक्षं ददौ। पुनश्च पठति कविः—

अम्भोजपत्रायतलोचनानामम्भोधिदीर्घास्विह दीर्घिकासु।
समागतानां कुटिलैरपाङ्गैरनङ्गबाणैः प्रहता युवानः॥ 278॥

पुनश्च बल्लालनृपः प्रत्यक्षरं लक्षं ददौ। एवं तत्रैव स्थितः कालिदासः।

अत्रान्तरे धारानगर्यां भोजं प्राप्य द्वारपालः प्राह—'देव, गुर्जर-देशान्माघनामा पण्डितवर आगत्य नगराद्बहिरास्ते। तेन च स्वपत्नी राजद्वारि प्रेषिता। राजा— 'तां प्रवेशय' इत्याह। ततो माघपत्नी प्रवेशिता। सा राजहस्ते पत्रं प्रायच्छत्। राजा तदादाय वाचयति—

कुमुदवनमपश्रि श्रीमदम्भोजषण्डं
त्यजति मुदमुलूकः प्रीतिमांश्चक्रवाकः।
उदयमहिमरश्मिर्याति शीतांशुरस्तं
हतविधिनिहतानां हा विचित्रो विपाकः॥ 279॥ इति।

राजा तदद्भुतं प्रभातवर्णनमाकर्ण्य लक्षत्रयं दत्त्वा माघपत्नीमाह—'मातः, इदं भोजनाय दीयते। प्रातरहं माघपण्डितमागत्य नमस्कृत्य पूर्णमनोरथं करिष्यामि' इति।

ततः सा तदादाय गच्छन्ती याचकानां मुखात्स्वभर्तुः शारदचन्द्र-किरणगौरान्गुणाञ्श्रुत्वा तेभ्य एव धनमखिलं भोजदत्तं दत्तवती। माघपण्डितं स्वभर्तारमासाद्य प्राह—'नाथ, राज्ञा भोजेनाहं बहुमानिता। धनं सर्वं याचकेभ्यस्त्वद्गुणानाकर्ण्य दत्तवती।' माघः प्राह—'देवी, साधु कृतम्। परमेते याचकाः समायान्ति किल। तेभ्यः किं देयम्' इति। ततो माघपण्डितं वस्त्रावशेषं ज्ञात्वा कोऽप्यर्थी प्राह—

आश्वास्य पर्वतकुलं तपनोष्णतप्त-
मुद्दामदावविधुराणि च काननानि।
नानानदीनदशतानि च पूरयित्वा
रिक्तोऽसि यज्जलद सैव तवोत्तमश्रीः'॥ 280॥

इत्येतदाकर्ण्य माघः स्वपत्नीमाह—देवी,

अर्था न सन्ति च न मुञ्चति मां दुराशा
त्यागे रतिं वहति दुर्ललितं मनो मे।
याञ्चा च लाघवकरी स्ववधे च पापं
प्राणाः स्वयं व्रजत किं परिदेवनेन॥ 281॥

दारिद्र्यानलसन्तापः शान्तः सन्तोषवारिणा।
याचकाशाविघातान्तर्दाहः केनोपशाम्यति'॥ 282॥ इति।

ततस्तदा माघपण्डितस्य तामवस्थां विलोक्य सर्वे याचका यथास्थानं जग्मुः। एवं तेषु याचकेषु यथायथं गच्छत्सु माघः प्राह—

'व्रजत व्रजत प्राणा अर्थिभिर्व्यर्थतां गतैः।
पश्चादपि च गन्तव्यं क्व सार्थः पुनरीदृशः॥ 283॥

इति विलपन्माघपण्डितः परलोकमगात्। ततो माघपत्नी स्वामिनि परलोकं गते सति प्राह—

'सेवन्ते स्म गृहं यस्य दासवद् भूभुजः सदा।
स स्वभार्यासहायोऽयं म्रियते माघपण्डितः'॥ 284॥

ततो राजा माघं विपन्नं ज्ञात्वा निजनगराद्विप्रशतावृतो मौनी रात्रावेव तत्रागात्। ततो माघपत्नी राजानं वीक्ष्य प्राह—'राजन्, यतः पण्डितवरस्त्वद्देशं प्राप्तः परलोकमगात्, ततोऽस्य कृत्यशेषं सम्यगाराधनीयं भवता' इति। ततो राजा माघं विपन्नं नर्मदातीरं नीत्वा यथोक्तेन विधिना संस्कारमकरोत्। तत्र च माघपत्नी वह्नौ प्रविष्टा। तयोश्च पुत्रवत्सर्वं चक्रे भोजः।

ततो माघे दिवं गते राजा शोकाकुलो विशेषेण कालिदासवियोगेन च पण्डितानां प्रवासेन कृशोऽभूद्दिने दिने बहुलपक्षशशीव। ततोऽमात्यैर्मिलित्वा चिन्तितम्—'बल्लालदेशे कालिदासो वसति। तस्मिन्नागते राजा सुखी भविष्यति' इति। एवं विचार्यामात्यैः पत्रे किमपि लिखित्वा तत्पत्रं चैकस्यामात्यस्य हस्ते दत्वा प्रेषितम्। स कालक्रमेण कालिदासमासाद्य 'राज्ञोऽमात्यैः प्रेषितोऽस्मि' इति नत्वा तत्पत्रं दत्तवान्। ततस्तत्कालिदासो वाचयति—

'न भवति स भवति न चिरं भवति चिरं चेत्फले विसंवादी।
कोपः सत्पुरुषाणां तुल्यः स्नेहेन नीचानाम्॥ 285॥

सहकारे चिरं स्थित्वा सलीलं बालकोकिल।
तं हित्वाऽद्याऽन्यवृक्षेषु विचरन्न विलज्जसे॥ 286॥

कलकण्ठ यथा शोभा सहकारे भवद्गिरः।
खदिरे वा पलाशे वा किं तथा स्याद्विचारय'॥ 287॥ इति।

ततः कालिदासः प्रभाते तं भूपालमापृच्छ्य मालवदेशमागत्य राज्ञः क्रीडोद्याने तस्थौ। ततो राजा च तत्रागतं ज्ञात्वा स्वयं गत्वा महता परिवारेण तमानीय सम्मानितवान्। ततः क्रमेण विद्वन्मण्डले च समायाते सा भोजपरिषत् प्रागिव रेजे।

ततः सिंहासनमलङ्कुर्वाणं भोजं द्वारपाल आगत्य प्रणम्याह—'देव, कोऽपि विद्वाञ्जालन्धरदेशादागत्य द्वार्यास्ते' इति। राजा 'प्रवेशय' इत्याह। स च विद्वानागत्य सभायां तथाविधं राजानं जगन्मान्यान् कालिदासादीन्क-

विपुङ्गवान्वीक्ष्य बद्धजिह्व इवाजायत। सभायां किमपि तस्य मुखान्न निःसरति। तदा राज्ञोक्तम्—'विद्वन्, किमपि पठ' इति। स आह—

आरनालगलदाहशङ्कया मन्मुखादपगता सरस्वती।
तैन वैरिकमलाकचग्रहव्यग्रहस्त न कवित्वमस्ति मे'॥ 288॥

राजा तस्मै महिषीशतं ददौ।

अन्यदा राजा कौतुकाकुलः सीतां प्राह—'देवी, सुरतं पठ' इति।

सीता प्राह—

'सुरताय नमस्तस्मै जगदानन्दहेतवे।
आनुषङ्गिः फलं यस्य भोजराज भवादृम्'॥ 289॥

ततस्तुष्टो राजा तस्यै हारं ददौ।

ततो राजा चामरग्राहिणीं वेश्यामवलोक्य कालिदासं प्राह—'सुकवे, वेश्यामेनां वर्णय' इति। तामवलोक्य कालिदासः प्राह—

'कचभारात्कुचभारः कुचभाराद्भीतिमेति कचभारः।
कचकुचभाराज्जघनं कोऽयं चन्द्रानने चमत्कारः'॥ 290॥

भोजस्तुष्टः सन्स्वयमपि पठति—

'वदनात्पदयुगलीयं वचनादधरश्च दन्तपङ्क्तिश्च।
कचतः कुचयुगलीयं लोचनयुगलं च मध्यतस्त्रसति'॥ 291॥

अन्यदा भोजो राजा धारानगर एकाकी विचरन्कस्यचिद्विप्रवरस्य गृहं गत्वा तत्र काञ्चन पतिव्रतां स्वाङ्के शयानं भर्तारमुद्वहन्तीमपश्यत्। ततस्तस्याः शिशुः सुप्तोत्थितो ज्वालायाः समीपमगच्छत्। इयं च पतिधर्मपरायणा स्वपतिं नोत्थापयामास, शिशुं च वह्नौ पतन्तं नागृह्णात्। राजा चाश्चर्यमालोक्यातिष्ठत्। ततः सा पतिधर्मपरायणा वैश्वानरं प्रार्थयत्—'यज्ञेश्वर, त्वं सर्वकर्मसाक्षी सर्वधर्मज्ञानासि। मां पतिधर्मपराधीनां शिशुमगृह्णन्तीं च जानासि। ततो मदीयशिशुमनुगृह्य त्वं मा दह' इति। ततः शिशुर्यज्ञेश्वरं प्रविश्य तं च हस्तेन गृहीत्वार्धघटिकापर्यन्तं तत्रैवाऽतिष्ठत्। ततो

नारोदीत्प्रसन्नमुखश्च शिशुः। सा च ध्यानारूढाऽतिष्ठत्। ततो यदृच्छया समुत्थिते भर्तरि सा झटिति शिशुं जग्राह। तं च परं धर्ममालोक्य विस्मयाविष्टो नृपतिराह– 'अहो मम समं भाग्यं कस्यास्ति, यदीदृश्यः पुण्यस्त्रियोऽपि मन्नगरे वसन्ति' इति।

ततः प्रातः सभायामागत्य सिंहासन उपविष्टो राजा कालिदासं प्राह–सुकवे, महदाश्चर्यं मया पूर्वेद्यू रात्रौ दृष्टमस्ति'। इत्युक्त्वा राजा पठति–'हुताशनश्चन्दनपङ्कशीतलः'। कालिदासस्ततश्चरणत्रयं झटिति पठति–

'सुतं पतन्तं प्रसमीक्ष्य पावके न
बोधयामास पतिं पतिव्रता।
तदाऽभवत्तत्पतिभक्तिगौरवाद्धु-
ताशनश्चन्दनपङ्कशीतलः'॥ 292॥

राजा च स्वाभिप्रायमालोक्य विस्मितस्तमालिङ्ग्य पादयोः पतति स्म।

एकदा ग्रीष्मकाले राजाऽन्तःपुरे विचरन्घर्मतापतप्त आलिङ्गनादिकम-कुर्वंस्ताभिः सह सरससंलापाद्युपचारमनुभूय तत्रैव सुप्तः। ततः प्रातरुत्थाय राजा सभां प्रविष्टः कुतूहलात्पठति–

मरुदागमवार्तयापि शून्ये समये जाग्रति सम्प्रवृद्ध एव।

भवभूतिराह–

उरगी शिशवे बुभुक्षवे स्वामदिशत्फूत्कृतिमाननानिलेन।
मरुदागमवार्तयापि शून्ये समये जाग्रति सम्प्रवृद्ध एव॥ 293॥

राजा प्राह–'भवभूते, लोकोक्तिः सम्यगुक्ता' इति। ततोऽपाङ्गेन राजा कालिदासं पश्यति। ततः स आह–

अबलासु विलासिनोऽन्वभूवन्नयनैरेव नवोपगूहनानि।
मरुदागमवार्तयापि शून्ये समये जाग्रति सम्प्रवृद्ध एव॥ 294॥

तदा राजा स्वाभिप्रायं ज्ञात्वा तुष्टः कालिदासं विशेषेण सम्मानितवान्।

अन्यदा मृगयापरवशो राजाऽत्यन्तमार्तः कस्यचित्सरोवरस्य तीरे निबिडच्छायस्य जम्बूवृक्षस्य मूलमुपाविशत्। तत्र शयाने राज्ञि जम्बोरुपरि बहुभिः कपिभिर्जम्बूफलानि सर्वाण्यपि चालितानि। तानि सशब्दं पतितानि पश्यन्घटिकामात्रं स्थित्वा श्रमं परिहृत्य उत्थाय तुरङ्गमवरमारुह्य गतः। ततः सभायां राजा पूर्वानुभूतकपिचालितफलपतनरवमनुकुर्वन्समस्यामाह–'गुलुगुग्गुलु-गुग्गुलु'। तत आह कालिदासः–

'जम्बूफलानि पक्वानि पतन्ति विमले जले।
कपिकम्पितशाखाभ्यो गुलुगुग्गुलुगुग्गुलु'॥ 295॥

राजा तुष्ट आह–'सुकवे, अदृष्टमपि परहृदयं कथं जानासि। साक्षाच्छारदासि' इति मुहुर्मुहुः पादयोः पतति स्म।

एकदा धारानगरे प्रच्छन्नवेषी विचरन्कस्यचिद् वृद्धब्राह्मणस्य गृहं राजा मध्याह्नसमये गच्छंस्तत्र तिष्ठति स्म। तदा वृद्धविप्रो वैश्वदेवं कृत्वा काकबलिं गृह्णन्गृहान्निर्गत्य भूमौ जलशुद्धायां निक्षिप्य काकमाह्वयति स्म। तत्र हस्तविस्फालनेन हाहेतिशब्देन च काकाः समायाताः। तत्र कश्चित्काकस्तारं रारटीति स्म। तच्छ्रुत्वा तत्पत्नी तरुणी भीतेव हस्तं निजोरसि निधाय 'अये मातः' इति चक्रन्द। ततो ब्राह्मणः प्राह–प्रिये साधुशीले, किमर्थं बिभेषि' इति। सा प्राह–'नाथ! मादृशीनां पतिव्रतास्त्रीणां क्रूरध्वनिश्रवणं न सह्यम्।' 'साधुशीले, तथा भवेदेवम्' इति विप्र आह।

ततो राजा तच्चरितं सर्वं दृष्ट्वा व्यचिन्तयत्–'अहो, इयं तरुणी दुःशीला नूनम्। यतो निर्व्याजं बिभेति। स्वपातिव्रत्यं स्वयमेव कीर्तयति च। नूनमियं निर्भीका सती अत्यन्तं दारुणं कर्म रात्रौ करोत्येव।' एवं निश्चित्य राजा तत्रैव रात्रावन्तर्हित एवातिष्ठत्। अथ निशीथे भर्तरि सुप्ते सा मांसपेटिकां वेश्याकरेण वाहयित्वा नर्मदातीरमगच्छत्। राजाप्यात्मानं गोपयित्वाऽनुगच्छति स्म। ततः सा नर्मदां प्राप्य तत्र समागतानां ग्राहाणां मांसं दत्त्वा नदीं तीर्त्वा परतीरस्थेन शूलाग्रारोपितेन स्वमनोरमेण सह रमते स्म। तच्चरित्रं दृष्ट्वा राजा गृहं समागत्य प्रातः सभायां कालिदासमालोक्य प्राह–सुकवे, शृणु–

'दिवा काकरुताद्भीता'

ततः कालिदास आह–

'रात्रौ तरति नर्मदाम्।'

ततस्तुष्टो राजा पुनः प्राह–

'तत्र सन्ति जले ग्राहाः'

ततः कविराह–

'मर्मज्ञा सैव सुन्दरी'॥ 296॥

ततो राजा कालिदासस्य पादयोः पतति।

एकदा धारानगरे विचरन्वेश्यावीथ्यां राजा कन्दुकलीलातत्परां तद्भ्रमणवेगेन पादयोः पतितावतंसां काञ्चन सुन्दरीं दृष्ट्वा सभायामाह–'कन्दुकं वर्णयन्तु कवयः' इति। तदा भवभूतिराह–

'विदितं ननु कन्दुक ते हृदयं प्रमदाधरसङ्गमलुब्ध इव।
वनिताकरतामरसाभिहतः पतितः पतितः पुनरुत्पतसि॥ 297॥

ततो वररुचिः प्राह–

एकोऽपि त्रय इव भाति कन्दुकोऽयं
कान्तायाः करतलरागरक्तरक्तः।
भूमौ तच्चरणनखांशुगौरगौरः
स्वस्थः सन्नयनमरीचिनीलनीलः॥ 298॥

ततः कालिदास आह–

'पयोधराकारधरो हि कन्दुकः
करेण रोषादभिहन्यते मुहुः।
इतीव नेत्राकृतिं भीतमुत्पलं स्त्रियाः
प्रसादाय पपात पादयोः'॥ 299॥

तदा राजा तुष्टस्त्रयाणामक्षरलक्षं ददौ। विशेषेण च कालिदासमदृष्टावतंसकुसुमपतनबोद्धारं सम्मानितवान्।

ततः कदाचिच्चित्रकर्मावलोकनतत्परो राजा चित्रलिखितं महाशेषं दृष्ट्वा 'सम्यग्लिखितम्' इत्यवदत्। तदा कश्चिच्छिवशर्मा नाम कविः शेषमिषेण राजानं स्तौति—

'अनेके फणिनः सन्ति भेकभक्षणतत्पराः।
एक एव हि शेषोऽयं धरणीधरणक्षमः'॥ 300॥

तदानीं राजा तदभिप्रायं ज्ञात्वा तस्मै लक्षं ददौ।

कदाचिद्धेमन्तकाले समागते ज्वलन्तीं हसन्तीं संसेवयन्राजा कालिदासं प्राह—'सुकवे, हसन्तीं वर्णय' इति। ततः सुकविराह—

'कविमतिरिव बहुलोहा सुघटितचक्रा प्रभातवेलेव।
हरमूर्तिरिव हसन्ती भाति विधूमानलोपेता'॥ 301॥

राजाक्षरलक्षं ददौ।

एकदा भोजराजोऽन्तर्गृहे भोगार्हास्तुल्यगुणाश्चतस्रो निजाङ्गना अपश्यत्। तासु च कुन्तलेश्वरपुत्र्यां पद्मावत्यामृतुस्नानम्, अङ्गराजस्य पुत्र्यां चन्द्रमुख्यां क्रमप्राप्तिम्, कमलानाम्न्यां च द्यूतपणजयलब्धप्राप्तिम्, अग्रमहिष्यां च लीलादेव्यां दूतीप्रेषणमुखेनाह्वानं च—एवं चतुरो गुणान्दृष्ट्वा तेषु गुणेषु न्यूनाधिकभावं राजाप्यचिन्तयत्। तत्र सर्वत्र दाक्षिण्यनिधी राजराजः श्रीभोजस्तुल्यभावेन द्वित्रिघटिकापर्यन्तं विचिन्त्य विशेषानवधारणेन निद्रां गतः। प्रातश्चोत्थाय कृताह्निकः सभामगात्। तत्र च सिंहानमलङ्कुर्वाणः श्रीभोजः सकलविद्वत्कविमण्डलमण्डनं कालिदासमालोक्य 'सुकवे, इमां त्र्यक्षरोनतुरीयचरणां समस्यां शृणु', इत्युक्त्वा पठति—'अप्रतिपत्तिमूढमनसा द्वित्राः स्थिता नाडिकाः।' इति पठित्वा राजा कालिदासमाह—'सुकवे, एतत्समस्यापूरणं कुरु' इति। ततः कालिदासस्तस्य हृदयं करतलामलकवत्प्रपश्यंस्त्र्यक्षराधिकचरणत्रयविशिष्टां तां समस्यां पठति—देव,

'स्नाता तिष्ठति कुन्तलेश्वरसुता वारोऽङ्गराजस्वसु-
र्द्यूते रात्रिरियं जिता कमलया देवी प्रसाद्याऽधुना।
इत्यन्तः पुरसुन्दरीजनगुणे न्यूनाधिकं ध्यायता
देवेनाप्रतिपत्तिमूढमनसा द्वित्राः स्थिता नाडिकाः'॥ 302॥

तदा राजा स्वहृदयमेव ज्ञातवतः कालिदासस्य पादयोः पतति स्म। कविमण्डलं च चमत्कृतमजायत।

एकदा राजा धारानगरे विचरन्क्वचित्पूर्णकुम्भं धृत्वा समायान्तीं पूर्णचन्द्राननां काञ्चिद् दृष्ट्वा तत्कुम्भजले शब्दं च कञ्चन श्रुत्वा 'नूनमेव तस्याः कण्ठग्रहेऽयं घटो रतिकूजितमिव कूजति' इति मन्यमानः सभायां कालिदासं प्राह–'कूजितं रतिकूजितम्' इति। कविराह–

'विदग्धे सुमुखे रक्ते नितम्बोपरि संस्थिते।
कामिन्याश्लिष्टसुगले कूजितं रतिकूजितम्'॥ 303॥

तदा तुष्टो राजा प्रत्यक्षरलक्षं ददौ ननाम च।

एकदा नर्मदायां महाह्रदे जालकैरेकः शिलाखण्ड ईषद्भ्रंशिताक्षरः कश्चिद् दृष्टः। तैश्च परिचिन्तितम्–'इदमत्र लिखितमिव किञ्चिद्भाति। नूनमिदं राजनिकटं नेयम्' इति बुद्ध्या भोजसदसि समानीतम्। तदाकर्ण्य भोजः प्राह–'पूर्वं भगवता हनूमता श्रीमद्रामायणं कृतम्। तदत्र ह्रदे प्रक्षेपितमिति श्रुतमस्ति। ततः किमिदं लिखितमित्यवश्यं विचार्यमिति लिपिज्ञानं कार्यम्।' जतुपरीक्षयाऽक्षराणि परिज्ञाय पठति। तत्र चरणद्वयमानुपूर्व्याल्लब्धम्–

'अयि खलु विषमः पुराकृतानां
भवति हि जन्तुषु कर्मणां विपाकः।'

ततो भोजः प्राह–'एतस्य पूर्वार्धं कथ्यताम्' इति। तदा भवभूतिराह–

क्व नु कुलमकलङ्कमायताक्ष्याः
क्व नु रजनीचरसङ्गमापवादः।
अयि खलु विषमः पुराकृतानां
भवति हि जन्तुषु कर्मणां विपाकः'॥ 304॥

ततो भोजस्तत्र ध्वनिदोषं मन्वानस्तदेव पूर्वार्धमन्यथा पठति स्म–

'क्व जनकतनया क्व रामजाया
क्व च दशकन्धरमन्दिरे निवासः
अयि खलु विषमः पुराकृतानां
भवति हि जन्तुषु कर्मणां विपाकः'॥ 305॥

ततो भोजः कालिदासं प्राह–'सुकवे, त्वमपि कविहृदयं पठ' इति। स आह–

शिवशिरसि शिरांसि यानि रेजुः
शिव शिव तानि लुठन्ति गृध्रपादे।
अयि खलु विषमः पुराकृतानां
भवति हि जन्तुषु कर्मणां विपाकः'॥ 306॥

ततस्तस्य शिलाखण्डस्य पूर्वपुटे जतुशोधनेन कालिदासपठितमेव दृष्ट्वा राजा भृशं तुतोष।

कदाचिद्भोजेन विलासार्थं नूतनगृहान्तरं निर्मितम्। तत्र गृहान्तरे गृहप्रवेशात्पूर्वमेकः कश्चिद् ब्रह्मराक्षसः प्रविष्टः। स च रात्रौ तत्र ये वसन्ति तान्भक्षयति। ततो मान्त्रिकान्समाहूय तदुच्चाटनाय राजा यतते स्म। स चागच्छन्नेव मान्त्रिकानेव भक्षयति। किं च स्वयं कवित्वादिकं पूर्वाभ्यस्तमेव पठंस्तिष्ठति। एवं स्थिते तत्रैव रक्षसि राजा 'कथमस्य निवृत्तिः' इति व्यचिन्तयत्। तदा कालिदासः प्राह–'देव, नूनमयं राक्षसः सकलशास्त्रप्रवीणः सुकविश्च भाति। अतस्तमेव तोषयित्वा कार्यं साधयामि। मान्त्रिकास्तिष्ठन्तु। मम मन्त्रं पश्य' इत्युक्त्वा स्वयं तत्र रात्रौ गत्वा शेते स्म। ततः प्रथमयामे ब्रह्मराक्षसः समागतः। स चापूर्वं पुरुषं दृष्ट्वा प्रतियाममेकैकां समस्यां पाणिनिसूत्रमेव पठति। येनोत्तरं तदानीमपि–'पूर्ववदयमपूर्वः पुरुषः। अतो मया समस्य पठनीया। न चेद्वक्ति सदृशमुत्तरं तस्यास्तदा हन्तव्यः' इति बुद्ध्या पठति–

'सर्वस्य द्वे' इति।

तदा कालिदासः प्राह–

'सुमतिकुमती सम्पदापत्तिहेतू' इति।

ततः स गतः। पुनरपि द्वितीययामे समागत्य पठति–

'वृद्धो यूना' इति।

तदा कविराह–

'सह परिचयात्त्यज्यते कामिनीभिः'। इति।

तृतीययामे स राक्षसः पुनः समागत्य पठति–

'एको गोत्रे' इति।

ततः कविराह–

'स भवति पुमान्यः कुटुम्बं बिभर्ति' इति।

ततश्चतुर्थयाम आगत्य स राक्षसः पठति–

'स्त्री पुंवच्च' इति।

ततः कविराह–

'प्रभवति यदा तद्धि गेहं विनष्टम्'॥ 307॥ इति।

ततः स राक्षसो यामचतुष्टयेऽपि स्वाभिप्रायमेव ज्ञात्वा तुष्टः प्रभातसमये समागत्य तमाश्लिष्य प्राह–'सुमते, तुष्टोऽस्मि। किं तवाभीष्टम्' इति। कालिदासः प्राह–'भगवन्, एतद् गृहं विहायान्यत्र गन्तव्यम्' इति। सोऽपि 'तथा' इति गतः। अनन्तरं तुष्टो भोज कविं बहु मानितवान्।

एकदा सिंहासनमलङ्कुर्वाणे श्रीभोजे सकलभूपालशिरोमणौ द्वारपाल आगत्य प्राह–'देव, दक्षिणदेशात्कोऽपि मल्लिनाथनामा कविः कौपीनावशेषो द्वारि वर्तते। राजा 'प्रवेशय' इत्याह। ततः कविरागत्य 'स्वस्ति' इत्युक्त्वा तदाज्ञया चोपविष्टः पठति–

'नागो भाति मदेन खं जलधरैः पूर्णेन्दुना शर्वरी
शीलेन प्रमदा जवेन तुरगो नित्योत्सवैर्मन्दिरम्।
वाणी व्याकरणेन हंसमिथुनैर्नद्यः सभा पण्डितैः
सत्पुत्रेण कुलं त्वया वसुमती लोकत्रयं भानुना'॥ 308॥

ततो राजा प्राह–'विद्वान्, तवोद्देश्यं किम्' इति। ततः कविराह–

अम्बा कुप्यति न मया न स्नुषया सापि नाम्बया न मया।
अहमपि न तया न तया वद राजन्कस्य दोषोऽयम्॥ 309॥

इति । राजा च दारिद्र्यदोषं ज्ञात्वा कविं पूर्णमनोरथं चक्रे।

एकदा द्वारपाल आगत्य राजानं प्राह—'देव, कविशेखरो नाम महाकविर्द्वारि वर्तते। राजा 'प्रवेशय' इत्याह। ततः कविरागत्य 'स्वस्ति' इत्युक्त्वा पठति—

'राजन्दौवारिकादेव प्राप्तवानस्मि वारणम्।
मदवारणमिच्छामि त्वत्तोऽहं जगतीपते'॥ 310॥

तदा प्राङ्मुखस्तिष्ठनराजाऽतिसन्तुष्टस्तं प्राग्देशं सर्वं कवये दत्तं मत्वा दक्षिणाभिमुखोऽभूत्। ततः कविश्चिन्तयति—'किमिदम्! राजा मुखं परावृत्य मां न पश्यति' इति। ततो दक्षिणदेशे समागत्याभिमुखः कविः पठति—

'अपूर्वेयं धनुर्विद्या भवता शिक्षिता कथम्।
मार्गणौघः समायाति गुणो याति दिगन्तरम्'॥ 311॥

ततो राजा दक्षिणदेशमपि मनसा कवये दत्वा स्वयं प्रत्यङ्मुखोऽभूत्। कविस्तत्रागत्य प्राह—

'सर्वज्ञ इति लोकोऽयं भवन्तं भाषते मृषा।
परमेकं न जानीषे वक्तुं नास्तीति याचके'॥ 312॥

ततो राजा तमपि देशं कवेर्दत्तं मत्वोदङ्मुखोऽभूत्। कविस्तत्राप्यागत्य प्राह—

'सर्वदा सर्वदोऽसीति मिथ्या त्वं कथ्यसे बुधैः।
नारयो लेभिरे पृष्ठं न वक्षः परयोषितः'॥ 313॥

ततो राजा स्वां भूमिं कविदत्तां मत्वोत्तिष्ठति स्म। कविश्च तवभिप्रायमज्ञात्वा पुनराह—

'राजन्कनकधाराभिस्त्वयि सर्वत्र वर्षति।
अभाग्यच्छत्रसंच्छन्ने मयि नायान्ति बिन्दवः'॥ 314॥

तदा राजा चाऽन्तःपुरं गत्वा लीलादेवीं प्राह—'देवि, सर्वं राज्य कवये दत्तम्। ततस्तपोवनं मया सहागच्छ' इति। अस्मिन्नवसरे विद्वान्द्वारि निर्गतः। बुद्धिसागरेण वृद्धामात्येन पृष्टः—'विद्वन्, राज्ञा किं दत्तम्' इति। स

आह– 'न किमपि' इति। तदाऽमात्यः प्राह–'तत्रोक्तं श्लोकं पठ।' ततः कविः श्लोकचतुष्टयं पठति। अमात्यस्ततः प्राह–'सुकवे, तव कोटिद्रव्यं दीयते, परं राज्ञा यदत्र तव दत्तं भवति तत्पुनर्विक्रीयताम्' इति। कविस्तथा करोति। ततः कोटिद्रव्यं दत्त्वा कविं प्रेषयित्वाऽमात्यो राजनिकटमागत्य तिष्ठति स्म। तदा राजा च तमाह–'बुद्धिसागर, राज्यमिदं सर्वं दत्तं कवये। पत्नीभिः सह तपोवनं गच्छामि। तत्र तपोवने तवापेक्षा यदि मया सहागच्छ' इति। ततोऽमात्यः प्राह–'देव, तेन कविता कोटिद्रव्यमूल्येन राज्यमिदं विक्रीतम्। कोटिद्रव्यं च विदुषे दत्तम्। अतो राज्यं भवदीयमेव। भुङ्क्ष्व' इति। तदा राजा च बुद्धिसागरं विशेषेण सम्मानितवान्।

अन्यदा राजा मृगयारसेनाटवीमटंल्ललाटंतपे तपने द्यूनदेहः पिपासापर्याकुलस्तुरगमारुह्योदकार्थी निकटतटभुवमटंस्तदलब्ध्वा परिश्रान्तः कस्यचिन्महातरोरधास्तादुपविष्टः। तत्र काचिद्गोपकन्या सुकुमारमनोज्ञसर्वाङ्गी यदृच्छया धारानगरं प्रति तक्रं विक्रेतुकामा तक्रभाण्डं चोद्वहन्ती समागच्छति। तामागच्छन्तीं दृष्ट्वा राजा पिपासावशादेतद्भाण्डस्थं पेयं चेत्पिबामीति बुद्ध्याऽपृच्छत्–'तरुणि, किमावहसि' इति। सा च तन्मुखश्रिया भोजं मत्वा तत्पिपासां च ज्ञात्वा तन्मुखावलोकनवशाच्छन्दोरूपेणाह–

'हिमकुन्दशशिप्रभशङ्खनिभं
परिपक्वकपित्थसुगन्धरसम्।
युवतीकरपल्लवनिर्मथितं पिब
हे नृपराज रुजापहरम्'॥ 315॥ इति।

राजा तच्च तक्रं तुष्टस्तां प्राह–'सुभ्रूः,! किं तवाभीष्टम्' इति। सा च किंचिदाविकृष्तयौवना मदपरवशमोहाकुलनयना प्राह–'देव, मां कन्यामेवावेहि।' सा पुनराह–

'इन्दुं कैरविणीव कोकपटलीवाम्भोजिनीवल्लभं
मेघं चातकमडलीव मधुपश्रेणीव पुष्पव्रजम्।
माकन्दं पिकसुन्दरीव रमणीवात्मेश्वरं प्रोषितं
चेतोवृत्तिरियं सदा नृपवर त्वां द्रष्टुमुत्कण्ठते'॥ 316॥

राजा चमत्कृतः प्राह–'सुकुमारि, त्वां लीलादेव्या अनुमत्या स्वीकुर्मः।' इति धारानगरं नीत्वा तां तथैव स्वीकृतवान्।

कदाचिद्राजाभिषेके मदनशरपीडिताया मदिराक्ष्याः करतलगलितो हेमकलशः सोपानपङ्क्तिषु रटन्नेव पपात। ततो राजा सभायामागत्य कालिदासं प्राह–सुकवे, एनां समस्यां पूरय–'टटंटटंटंटटटंटटंटम्।' ततः कालिदासः प्राह–

'राजाभिषेके मदविह्वलाया हस्ताच्च्युतो हेमघटो युवत्याः।
सोपानमार्गेषु करोति शब्दं टटंटटंटंटटटंटटंटम्॥ 317॥

तदा राजा स्वाभिप्रायं ज्ञात्वाक्षरलक्षं ददौ।

अन्यदा सिंहासनमलङ्कुर्वाणे श्रीभोजे कश्चिच्चोर आरक्षकैः राजनिकटं नीतः। राजा तं दृष्ट्वा 'कोऽयम्' इत्यपृच्छत्। तदा रक्षकः–'देव, अनेन कुम्भिलकेन कस्मिंश्चिद्वेश्यागृहे खातपातमार्गेण द्रव्याण्यपहृतानि' इति। तदा राजा प्राह–'अयं दण्डनीयः' इति। ततो भुक्कुण्डो नाम चोरः प्राह–

'भट्टिर्नष्टो भारवीयोऽपि नष्टो
भिक्षुर्नष्टो भीमसेनोऽपि नष्टः।
भुक्कुण्डोऽहं भूपतिस्त्वं हि राजन्
भब्भापङ्क्तावन्तकः संनिविष्टः॥ 318॥

तदा राजा प्राह–'भो भुक्कुण्ड, गच्छ गच्छ यथेच्छं विहर।'

कदाचिद्भोजो मृगयापर्याकुलो वने विचरन्विश्रमाविष्टहृदयः कंचित्तटाकमासाद्य स्थितवान्श्रमात्प्रसुप्तः। ततोऽपरपयोनिधिकुहरं गते भास्करे–

तत्रैवारोचत निशा तस्य राज्ञः सुखप्रदा।
चञ्चच्चन्द्रकरानन्दसन्दोहपरिकन्दला॥ 319॥

ततः प्रत्यूषसमये नगरीं प्रति प्रस्थितो राजा चरमगिरिनितम्बलम्बमानशशाङ्कबिम्बमवलोक्य सकुतूहलः सभामागत्य तदा समीपस्थान्क–

वीन्द्रान्निरीक्ष्य समस्यामेकामवदत्–'चरमगिरिंनितम्बे चन्द्रबिम्बं ललम्बे।' तदा प्राह भवभूतिः–

'अरुणकिरणजालैरन्तरिक्षे गतर्क्षे'

ततो दण्डी प्राह–

'चलती शिशिरवाते मन्दमन्दं प्रभाते।'

ततः कालिदासः प्राह–

'युवतिजनकदम्बे नाथमुक्तौष्ठबिम्बे
चरमगिरिनितम्बे चन्द्रबिम्बं ललम्बे'॥ 320॥

ततो राजा सर्वानपि संमानितवान्। तत्र कालिदासं विशेषतः पूजितवान्।

अथ कदाचिद्भोजो नगराद्बहिर्निर्गतो नूतनेन तटाकाम्भसा बाल्यसाधितकपालशोधनादि चकार। तन्मुखेन कश्चन शफरशावः कपालं प्रविष्टो विकटकरोटिकावटतोऽविनिर्गतः। ततो राजा स्वपुरीमवाप। तदारभ्य राज्ञः कपाले वेदना जाता। ततस्तत्रत्यैर्भिषग्वरैः सम्यक्चिकित्सितापि न शान्ता। एवमहिर्निशं नितरामस्वस्थे राज्ञ्यमानुषविदितेन महारोगेण–

क्षामं क्षाममभूद्वपुर्गतसुखं हेमन्तकालेऽब्जव-
द्वक्त्रं निर्गतकान्ति राहुवदनाक्रान्ताब्जबिम्बोपमम्।
चेतः कार्यपदेषु तस्य विमुखं क्लीबस्य नारीष्विव
व्याधिः पूर्णतरो बभूव विपिने शुष्के शिखावानिव॥ 321॥

एवमतीते संवत्सरेऽपि काले न केनापि निवारितस्तद्गदः। ततः श्रीभोजो नानाविधसमानौषधग्रसनरोगदुःखितमनाः समीपस्थं शोकसागरनिमग्नं बुद्धिसागरं कथमपि संयताक्षरामुवाच वाचम्–'बुद्धिसागर, इतः परमस्मद्विषये न कोऽपि भिषग्वरो वसतिमातनोतु। वाग्भटादिभेषजकोशान्निखिलन्स्रोतसि। निरस्यागच्छ। मम देवसमागमसमयः समागतः' इति। तच्छ्रुत्वा सर्वेऽपि पौरजनाः कवयश्चावरोधसमाजश्च विगलदस्रासारनयना बभूवुः।

ततः कदाचिद्देवसभायां पुरन्दरः सकलमुनिवृन्दमध्यस्थं वीणामुनिमाह–'मुने, इदानीं भूलोके का नाम वार्ता इति। ततो नारदः प्राह–'सुरनाथ,

न किमप्याश्चर्यम्। किंतु धारानगरवासी श्रीभोजभूपालो रोगपीडितो नितरामस्वस्थो वर्तते। स तस्य रोगः केनापि न निवारितः। तदनेन भोजनृपालेन भिषग्वरा अपि स्वदेशान्निष्कासिताः, वैद्यशास्त्रमप्यनृतमिति निरस्तम्' इति। एतदाकर्ण्य पुरुहूतः समीपस्थौ नासत्याविदमाह–'भोः स्ववैद्यौ, कथमनृतं धन्वन्तरीयं शास्त्रम्।' तदा तावाहतुः–'अमरेश देव, न व्यलीकमिदं शास्त्रम्। किन्त्वमरविदितेन रोगेण बाध्यतेऽसौ भोजः' इति।

इन्द्रः–कोऽसाववार्यरोगः। किं भवतोर्विदितः।

ततस्तावूचतुः–'देव, कपालशोधनं कृतं भोजेन, तदा प्रविष्टः पाठीनः। तन्मूलोऽयं रोगः' इति।

तदेन्द्रः स्मयमानमुखः प्राह–'तदिदानीमेव युवाभ्यां गन्तव्यम्। न चेदितः परं भूलोके भिषक्शास्त्रस्यासिद्धिर्भवेत्। स खलु सरस्वतीविलासस्य निकेतनं शास्त्राणामुद्धर्ता च' इति।

ततः सुरेन्द्रादेशेन तावुभावपि धृतद्विजन्मवेषौ धारानगरं प्राप्य द्वारस्थं प्राहतुः–'द्वारस्थ, आवां भिषजौ काशीदेशादागतौ श्रीभोजाय विज्ञापय तेनानृतमित्यङ्गीकृतं वैद्यशास्त्रमिति श्रुत्वा तत्प्रतिष्ठापनाय तद्रोगनिवारणाय च' इति। ततो द्वारस्थः प्राह–'भो विप्रौ, न कोऽपि भिषक्प्रवरः प्रवेष्टव्य इति राज्ञोक्तम्। राजा तु केवलमस्वस्थः। नायमवसरो विज्ञापनस्य' इति।

तस्मिन्क्षणे कार्यवशाद्बहिर्निर्गतो बुद्धिसागरस्तौ दृष्ट्वा 'कौ भवन्तौ' इत्यपृच्छत्। ततस्तौ यथागतमूचतुः। ततो बुद्धिसागरेण तौ राज्ञः समीपं नीतौ। ततो राजा ताववलोक्य मुखश्रियाऽमानुषाविति बुद्ध्वा 'आभ्यां शक्यतेऽयं रोगो निवारयितुम्' इति निश्चित्य तौ बहुमानितवान्।

ततस्तावूचतुः–'राजन्, न भेतव्यम्, रोगो निर्गतः। किं तु कुत्रचिदेकान्ते त्वया भवितव्यम्' इति। ततो राज्ञापि तथा कृतम्। ततस्तावपि राजानं मोहचूर्णेन मोहयित्वा शिरःकपालमादाय तत्करोटिकापुटे स्थितं शफरकुलं गृहीत्वा कस्मिंश्चिद्भाजने निक्षिप्य संधानकरण्या कपालं यथावदारचय्य संजीविन्या च तं जीवयित्वा तस्मै तददर्शयताम्। तदा तद् दृष्ट्वा राजा विस्मितः 'किमेतद्' इति तौ पृष्टवान्। तदा तावूचतुः–'राजन्, त्वया

बाल्यादारभ्य परिचितकपालशोधनतः सम्प्राप्तमिदम्' इति। ततो राजा तावश्विनौ मत्वा तच्छोधनार्थमपृच्छत्–'किमस्माकं पथ्यम्' इति। ततस्तावूचतुः–

'अशीतेनाम्भसा स्नानं पयःपानं वराः स्त्रियः।
एतद्वो मानुषाः पथ्यम्..................................

तत्रान्तरे राजा मध्ये 'मानुषाः' इति सम्बोधनं श्रुत्वा 'वयं चेन्मानुषाः, कौ युवाम्' इति तयोर्हस्तौ झटिति स्वहस्ताभ्यामग्रहीत्। ततस्तत्क्षण एव तावन्तरधत्तां ब्रुवन्तावेव 'कालिदासेन पूरणीयं तुरीयचरणम्' इति। ततो राजा विस्मितः सर्वानाहूय तद् वृत्तमब्रवीत्।

तच्छ्रुत्वा सर्वेऽपि चमत्कृता विस्मिताश्च बभूवुः। ततः कालिदासेन तुरीयचरणं पूरतिम्–

..................स्निग्धमुष्णं च भोजनम्'॥ 322॥ इति।

ततो भोजोऽपि कालिदासं लीलामानुषं मत्वा परं संमानितवान्। अथ भोजनृपतिः प्रतिदिनं संजातबलकान्तिर्ववृधे धाराधीशः कृष्णेतरपक्षे चन्द्र इव।

ततः कदाचित् सिंहासनमलंकुर्वाणे श्रीभोजे कालिदास–भवभूति –दण्डि–बाण–मयूर–वररुचि–प्रभृतिकवितिलककुलालंकृतायां सभायां द्वारपाल एत्याह–'देव, कश्चित्कविर्द्वारि वर्तते। तेनेयं प्रेपिता गाथा सनाथा चीठिका, देवसभायां निक्षिप्यताम्' इति तां दर्शयति। राजा गृहीत्वा तां वाचयति–

काचिद् बाला रमणवसतिं प्रेषयन्ती करण्डं
दासीहस्तात्सभयमलिखद्व्यालमस्योपरिस्थम्।
गौरीकान्तं पवनतनयं चम्पकं चात्र भावं
पृच्छत्यार्यो निपुणतिलको मल्लिनाथः कवीन्द्रः॥ 323॥

तच्छ्रुत्वा सर्वापि विद्वत्परिषच्चमत्कृता। ततः कालिदासः प्राह–'राजन्, मल्लिनाथः शीघ्रमाकारयितव्यः' इति। ततो राजादेशादद्वारपालेन स प्रवेशितः कवी राजानं 'स्वस्ति' इत्युक्त्वा तदाज्ञयोपविष्टः। ततो राजा प्राह तं कवीन्द्रम्–'विद्वन्मल्लिनाथकवे, साधु रचिता गाथा।' तदा कालिदासः

प्राह—'किमुच्यते साध्विति। देशान्तरगतकान्तायाश्चारित्र्यवर्णनेन श्लाघनीयोऽसि विशिष्य तत्तद्भावप्रतिभटवर्णनेन।' तदा भवभूतिः प्राह—'विशिष्यत इयं गाथा पङ्क्तिकण्ठोद्यानवैरिणो वातात्मजस्य वर्णनात्' इति। ततः प्रीतेन राज्ञा तस्मै दत्तं सुवर्णानां लक्षम्। पञ्च गजाश्च दश तुरगाश्च दत्ताः। ततः प्रीतो विद्वान् स्तौति राजानम्—

'देव भोज तव दानजलौघैः सा त्रयी समजनीति विशङ्के।
अन्यथा तदुदितेषु शिलागोभूरुहेषु कथमीदृशदानम्'॥ 326॥

ततो लोकोत्तरं श्लोकं श्रुत्वा राजा पुनरपि तस्मै लक्षत्रयं ददौ। ततो लिखति स्म भाण्डारिको धर्मपत्रे—

प्रीतः श्रीभोजभूपः सदसि विरहिणीगूढनर्मोक्तिपद्यं
श्रुत्वा हेम्नां च लक्षं दश वरतुरगान्पञ्च नागानयच्छत्।
पश्चात्तत्रैव सोऽयं वितरणगुणसद्वर्णनात्प्रीतचेता
लक्षं लक्षं च लक्षं पुनरपि च ददौ मल्लिनाथाय तस्मै'॥ 325॥

ततः कदाचिद्भोजराजः कालिदासं प्रति प्राह—'सुकवे, त्वमस्माकं चरमग्रन्थं पठ।' ततः क्रुद्धो राजानं विनिन्द्य कालिदासः क्षणेन तं देशं त्यक्त्वा विलासवत्या सहैकशिलानगरं प्राप। ततः कालिदासवियोगेन शोकाकुलस्तं कालिदासं मृगयितुं राजा कापालिकवेषं धृत्वा क्रमेणैकशिलानगरं प्राप। ततः कालिदासो योगिनं दृष्ट्वा तं सामपूर्वं पप्रच्छ—'योगिन्, कुत्र तेऽस्ति स्थितिः' इति। योगी वदति—'सुकवे, अस्माकं धारानगरे वसतिः' इति। ततः कविराह—'तत्र भोजः कुशली किम्।' ततो योगी प्राह—किं मया वक्तव्यम्' इति। ततः कविराह—'तत्रातिशयवार्तास्ति चेत्सत्यं कथय' इतिं। तदा योगी प्राह—'भोजो दिवं गतः' इति। ततः कविर्भूमौ निपत्य प्रलयति—'देव, त्वां विनास्माकं क्षणमपि भूमौ न स्थितिः। अतस्त्वत्समीपमहमागच्छामि' इति कालिदासो बहुशो विलप्य चरमश्लोकं कृतवान्—

अद्य धारा निराधारा निरालम्बा सरस्वती।
पण्डिताः खण्डिताः सर्वे भोजराजे दिवं गते'॥ 326॥

एवं यदा कविना चरमश्लोक उक्तस्तदैव स योगी भूतले विसंज्ञः पपात।

ततः कालिदासस्तथाविधं 'अयं भोज एव' इति निश्चित्य 'अहह महाराज, तत्रभवताऽहं वञ्चितोऽस्मि' इत्यभिधाय झटिति तं श्लोकं प्रकारान्तरेण पपाठ—

'अद्य धारा सदाधारा सदालम्बा सरस्वती।
पण्डिता मण्डिताः सर्वे भोजराजे भुवं गते'॥ 327॥

ततो भोजस्तमालिङ्ग्य प्रणम्य धारानगरं प्रति ययौ।

शैले शैलविनिश्चलं च हृदयं मुञ्जस्य तस्मिन्क्षणे
भोजे जीवति हर्षसंचयसुधाधाराम्बुधौ मज्जति।
स्त्रीभिः शीलवतीभिरेव सहसा कर्तुं तपस्तत्परे
मुञ्जे मुञ्चति राज्यभारमभजत्त्यागैश्च भोगैर्नृपः॥ 328॥

श्रीमन्महाराजधिराजस्य धारानगराधीशस्य भोजराजस्य
प्रबन्धः समाप्तिमफाणीत्।

परिशिष्ट-2

परिशिष्ट - 2

भोजप्रबन्ध-श्लोक-सूची

परिशिष्ट-3

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

मूलः

भोजप्रबन्ध : 'राज्यश्री' टीकोपेतः, प० केदारनाथ शर्मा, चौखम्भा विद्याभवन; वाराणसी, तृतीय सं०, 1970

भोजप्रबन्ध : डा० शिवराज शास्त्री, साहित्य भण्डार, मेरठ, द्वितीय संस्करण 1961

भोजप्रबन्ध : डा० रामेश्वर झा, प्रकाशन केन्द्र, लखनऊ

सूचियाँ, कोष एवं इतिहास ग्रन्थ (अकारादि क्रमानुसार)

अंग्रेजी

Aufrecht, Theodor : Catalogus Catalogorum Vol. I, Vol. II, Vol. III, Germany, 1962 (Original Edition) : I - 1891; II - 1896 ; III - 1903.

Banejee, S.C. : A Companion to Sanskrit Literature, Motilal Banarasidas, Delhi, III Edition, 1974.

Chaitanya Krishna : A New History of Sanskrit Literature, Manohar Pubishers, II ed., 1977.

Encyclopaedia Britannica : Vol. 16, 15th ed., Univ. of Chicago.

Garg, G.R. : An Encyclopaedia of Indian Literature, Mittal Publishers, Delhi, Ist ed., 1982.

International Encyclopaedia of Social Sciences

Krishnamachariar, M.: History of Classical Sanskrit Literature, Motilal Banarasidas, Delhi, III ed., 1974.

Winternitz, M. : A History of Indian Literature, translated from German by Subhadra Jha, Vol. III, Part I, Classical Sanskrit Literature, Motilal Banarasidass, Delhi, IInd ed., 1977.

Weber, Albrecht : The History of Indian Literature, Translated from German by John Mann and Theodor Zachariae, Takshila Hardbounds, Delhi, IV ed., 1981.

हिन्दी

अवस्थी, ब्रह्ममित्र : अलंकार-कोश

आप्टे, वामन शिवराम : संस्कृत-हिन्दी-कोश, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, तृतीय संस्करण, 1973

उपाध्याय, बलदेव : संस्कृत साहित्य का इतिहास, शारदा मंदिर, वाराणसी, अष्टम संस्करण, 1968

उपाध्याय, रामजी : संस्कृत के महाकवि और काव्य रामनारायणलाल बेनीप्रसाद, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, 1965

कुमार, कृष्ण : अलङ्कारशास्त्र का इतिहास, साहित्य भण्डार, मेरठ, प्रथम संस्करण, 1975

गैरोला, वाचस्पति : संस्कृत साहित्य का साँस्कृतिक इतिहास, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, 1967

गोरखप्रसाद : भारतीय ज्योतिष का इतिहास, हिन्दी समिति, उत्तर प्रदेश शासन, लखनऊ, द्वितीय संस्करण

पाण्डेय, चंद्रशेखर तथा व्यास, शा० ना० : संस्कृत-साहित्य की रूपरेखा, साहित्य निकेतन, कानपुर, अष्टम संस्करण, 1973

पाण्डेय, सत्यनारायण : संस्कृत-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, साहित्य भंडार, मेरठ, तृतीय संस्करण,1975

भारद्वाज, विश्वनाथ शास्त्री : 'संस्कृत साहित्येतिहासः' चौखम्भा ओरियन्टालिया, वाराणसी, तृतीय संस्करण, 1980

माथुर, विजयेन्द्र कुमार : 'ऐतिहासिक स्थानावली' शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार प्रथम संस्करण, 1969

नगेन्द्र : भारतीय साहित्य कोश, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली

व्यासशिष्य, कुंवरलाल : संस्कृत ललित साहित्य का इतिहास, इतिहास विद्या प्रकाशन, दिल्ली, 1979-80

शर्मा, द्वारकाप्रसाद और झा, तारिणीश : संस्कृत-शब्दार्थ कौस्तुभ, चतुर्थ संस्करण, रामनारायण लाल बेनीप्रसाद, इलाहाबाद।

शास्त्री, मंगलदेव : संस्कृत साहित्य का इतिहास, द्वितीय भाग (प्रो॰ ए॰ बी॰ कीथ द्वारा विरचित), प्राच्य अनुसंधान संस्थान, वाराणसी, 1967

सिंह, राजकिशोर : विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा, प्रथम संस्करण,

हीरा, राजवंश सहाय : संस्कृत साहित्य कोश, चौखम्भा संस्कृत सीरीज़, वाराणसी।

काव्यशास्त्र से संबद्ध पुस्तकें
(लक्षण-ग्रन्थ) (कालक्रमानुसार)

नाट्यशास्त्र : भरतमुनि (2री शती ई॰ पू॰-2री शती ईस्वी के बीच), शास्त्री, मधुसूदन; काशी हिन्दू विश्वविद्यालय संस्कृतसाहित्यानुसंधान समिति द्वारा प्रकाशित, 1971

काव्यालङ्कार : भामह (6वीं शती का मध्य) बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, 1962

काव्यादर्श : दण्डी (8वीं शती ईस्वी) गुप्त, धर्मेन्द्र कुमार, मेहरचन्द लक्ष्मनदास, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1973;

ध्वन्यालोक : आनन्दवर्धन (9वीं शती)
सिद्धान्तशिरोमणि विश्वेश्वर, (सं०-डा० नगेन्द्र), ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, द्वितीय संस्करण, 1971

काव्य-मीमांसा : राजशेखर (9वीं का उत्तरार्द्ध)
राय, गंगासागर, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, प्रथम संस्करण, 1964

काव्य-प्रकाशं : मम्मट (11वीं शती)
सिद्धान्तशिरोमणि, विश्वेश्वर (सं०-डा० नगेन्द्र), ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, चतुर्थ संस्करण, 1970

साहित्यदर्पण : विश्वनाथ कविराज (14वीं शती)
शास्त्री शालिग्राम; मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली, सप्तम संस्करण 1973

रसगंगाधर : पण्डितराज जगन्नाथ (17वीं शती)
मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली

सहायक पुस्तकें (अंग्रेजी) (अकारादि क्रमानुसार)

Caudwell, Cristopher : Illusions and Reality, International Publishers, New York, IInd edition, 1966

Nandargikar, G.R. : The Raghuvamsha of Kalidasa, Motilal Banarasidass, Delhi, V edition, 1982

Nath, Vija : Dana : The Gift System In Ancient India

Singh M. : Bhoja-Paramara And His Times, Bhartiya Vidya Prakashan, India, Ist edition, 1984

Sternbach, Ludwik : Indian Riddles : "A Forgotten Chapter in the History of Sanskrit Literature", Vishveshvaranand Vedic Research Institute, Hoshiarpur, Ist ed., 1975

सहायक पुस्तकें (हिन्दी) (अकारादि क्रमानुसार)

उपाध्याय, बलदेव : भारतीय दर्शन, चौखम्भा ओरियन्टालिया, वाराणसी, 1976

उपाध्याय, बलदेव : संस्कृत सुकवि-समीक्षा, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, 1963

चक्रधर, अशोक : मुक्तिबोध की काव्य-प्रक्रिया, दिल्ली, दि मैकमिलन कंपनी आफ इंडिया लिमिटेड, प्रथम संस्करण, 1975

चारुमित्र : आलोचक मुक्तिबोध, यूनाइटेड बुक हाउस, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1978

झारी, कृष्णदेव : भारतीय काव्य-सिद्धान्त-'रस', शारदा प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1980

त्रिपाठी, छविनाथ : 'चम्पू-काव्य का आलोचनात्मक एवं ऐतिहासिक अध्ययन',

चौखंभा विद्या भवन,
वाराणसी, प्रथम संस्करण, 1965

द्विवेदी, सुधाकर : गणक-तरंगिणी,
काशी, द्वितीय संस्करण, 1933

द्विवेदी, हजारीप्रसाद : प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद,
हिंदी ग्रंथ रत्नाकर प्रा॰ लि॰
हीराबाग, बम्बई,
तृतीय संस्करण, 1963

नगेन्द्र : रस-सिद्धान्त, नेशनल पब्लिशिंग
हाउस, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1987

भट्ट, गंगाधर : संस्कृत काव्य में नीति-तत्व,
जयपुर, प्रथम संस्करण, 1971-72

भरतिया, कांति किशोर : रामायण और महाभारत
में प्रकृति, कानपुर,
प्रथम संस्करण, 1969

मुक्तिबोध, गजानन माधव : कामायनी : एक पुनर्विचार, दिल्ली
प्रथम संस्करण, 1973,

व्यास, भोलाशंकर : संस्कृत कवि-दर्शन,
चौखम्भा विद्या भवन, वाराणसी,
तृतीय संस्करण, 1968

शर्मा, रामशरण : प्राचीन भारत में राजनैतिक
विचार एवं संस्थाएं,
द्वितीय संस्करण, 1990
राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।

शर्मा, हरद्वारी लाल : कला मनोविज्ञान,
मानसी प्रकाशन, मेरठ,
प्रथम संस्करण, 1992

शास्त्री, हरिदत्त : संस्कृत काव्यकार,
साहित्य भंडार, मेरठ,
द्वितीय संस्करण, 1970

योऽनूचानः स नो महान्।

राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्

राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान

मानित विश्वविद्यालय

नई दिल्ली